चिनगारियों से

लेखक—

मोहनदास कर्मचन्द गांधी.

प्रकाशक—

श्री गान्धी ग्रन्थागार

मुकाम—सोनवानी

जिला बलिया

प्रथमबार] १९४२ ई० [मूल्य १)

प्रकाशक:—
रमाशंकरलाल श्रीवास्तव "विशारद"
प्रोप्रा०-श्री गान्धी ग्रन्थागार,
पुरास, सोनवानी,
BALLIA.

प्रथम बार १०२५ प्रतियाँ.

मुद्रक—
बा० प्रभुदयाल मीतल,
अग्रवाल प्रेस, अग्रवाल भवन,
मथुरा।

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रकाशक की ओर से

गान्धी साहित्य की बढ़ती हुई मांग से कुछ प्रकाशक अनुचित लाभ उठा रहे हैं। वे पूज्य गांधीजी की एक ही पुस्तक को भिन्न भिन्न नामों से छाप कर जनता को आर्थिक हानि पहुँचा रहे हैं। इस लूट खसोट की नीति को रोकने और विशुद्ध गान्धी साहित्य के प्रचार के लिये हमने गान्धी ग्रन्थावली का प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इस ग्रन्थावली में हर महीने पूज्य गान्धीजी की लिखी हुई एक पुस्तक प्रकाशित हुआ करेगी। हमारा अनुमान है कि यह ग्रन्थावली लगभग बारह जिल्दों में पूरी हो जायगी।

ग्रन्थावली की पहिली पुस्तक "विद्यार्थियों से" आपके सामने है इसे उपयोगी बनाने की हमने काफी चेष्टा की है, फिर भी त्रुटियां रह ही गई हैं, उनके लिये पाठकगण क्षमा करेंगे।

ग्रन्थावली की दूसरी पुस्तक "महिलाओं से" छप रही है। हमें पूर्ण विश्वास है कि जनता इस ग्रन्थावली का अधिक से अधिक प्रचार कर हमारे उत्साह को बढ़ाने एवम् कार्य को अग्रसर करने में पूर्ण सहायक होगी।

अन्त में हम उन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों तथा संचालकों के विशेष कृतज्ञ हैं, जिनकी पत्रिकाओं से इस ग्रन्थावली का संग्रह किया जा रहा है।

विनीत—

रमाशंकर

नोट—संस्थाओं एवं पुस्तकालयों को गान्धी ग्रन्थावली के पूरे सेट के लिये स्थायी ग्राहक बनने पर विशेष सुविधा दी जावेगी। इस सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

देश, नरेश और ईश्वर के प्रति

जब मैं अपने 'पेरीग्रिनेशन्स' में था, तो कुछ लड़कों से मुलाकात हुई, जो अपने 'यूनीफार्म' में थे। मैंने उनसे पूछा कि उनके 'यूनीफार्म' का क्या मतलब था। मुझे यह भी मालूम हुआ कि उनके 'यूनीफार्म' के कपड़े विदेशी थे या ऐसे थे जो विदेशी सूतों से तैयार किये गये थे। वे जवाब दिये कि उनका वस्त्र 'बालचर सूचक' था। मेरी शंका वे अपने इस उत्तर से दूर किये। मुझे यह जानने की प्रबल इच्छा थी कि वे बालचर बनकर किस कर्तव्य का पालन करते थे। उनका जवाब था कि वे देश, नरेश और ईश्वर के सेवक थे। मैंने पूछा कि तुम्हारा नरेश कौन है? वे बतलाये कि जार्ज। फिर वे मुझसे प्रश्न किये कि 'जालियाँ वाला बाग' की क्या घटना है? यदि आप वहाँ १३ अप्रैल सन् १९१९ ई० को होते और 'जनरल डायर' आपको अपने देशवासियों के ऊपर गोली चलाने का हुक्म देता तो आप क्या करते, मैंने उत्तर दिया कि मैं उसकी आज्ञा का पालन नहीं करता। इस पर उनकी दलील थी कि 'जनरल डायर' तो बादशाह का प्रतिनिधि था। मैंने जवाब दिया कि वह हिंसा का पोषक है, मुझे उससे कोई सम्बन्ध नहीं। मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि 'डायर' बादशाह की हिंसक भावना को नहीं हटा सकता और बादशाह अँग्रेज़ी राज्य का केवल छाया मात्र है। कोई भी भारतीय ऐसी दशा में राजभक्त नहीं हो सकता।

मुख्य करके ऐसे राजा का जिसकी शासन प्रणाली ऐसी हो । क्योंकि ऐसा करने से वे ईश्वर-भक्त नहीं बन सकते । एक ऐसा राज्य जो अपनी गलतियों को नहीं सुधारे और कुटिल-नीति से काम ले, कभी भी ईश्वर के नियमों पर आधारित नहीं हो सकता । ऐसे राज्य की भक्ति ईश्वर की अभक्ति है । लड़का इस उत्तर से घबड़ा गया ।

मैंने फिर आगे कहा—'मान लो कि हम लोगों का मुल्क अपने को समृद्ध बनाने के लिए ईश्वर की सत्ता को भूल जाय और दूसरे लोगों की सम्पत्ति अपहरण करे, व्यवसाय को बढ़ाने के लिये मादक द्रव्यों का क्रय-विक्रय करके अपने पराक्रम और प्रतिष्ठा को बढ़ावे तो ऐसी दशा में हम लोग किस प्रकार से ईश्वर-भक्त और देश-भक्त दोनों ही बन सकते हैं । इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह दूंगा कि तुम्हें ईश्वर की भक्ति ही की प्रतिज्ञा करनी चाहिए और किसी की भी नहीं ।''

उसके और भी साथी थे जो हमारी इन बातों में काफी दिलचस्पी रखते थे । उनका प्रधान भी मेरे पास आया, उसके सामने मैंने इस दलील को फिर दुहराया और उससे यह अनुरोध किया कि वह स्वयं अपनी आत्मा से पूछे और उस पर विचार कर उन युवकों को जिन्हें वह पथ-प्रदर्शन करा रहा था; उसके अनुसार ही उन्हें शिक्षा दीक्षा दे । यह विषय मुश्किल से समाप्त हो पाया था, तब तक कि ट्रेन स्टेशन से रवाना हो गई, मुझे उन बच्चों के ऊपर दया आई और असहयोग के आन्दोलन की इच्छा अधिकाधिक प्रबल हुई । मनुष्य मात्र के लिए एक ही धर्म हो सकता है, जो उन्हें ईश्वर भक्त सिद्ध कर सकता है, जिस धर्म में यदि स्वार्थ और कुभावना न मिली हो । वह देश, नरेश, महेश तथा मनुष्य मात्र के लिए भक्तिप्रद सिद्ध हो सकता है लेकिन ऐसे धर्म का अभाव है ।

मुझे आशा है कि देश के नवयुवक तथा उनके शिक्षक अपनी गलतियों को महसूस करते हुए उनका सुधार करेंगे। नवयुवकों के अन्दर ऐसे धर्म की भावना भरना, जिसके अन्दर कोई सचाई न हो साधारण अपराध नहीं।

विद्यार्थी और चारित्र्य

पंजाब के एक भूतपूर्व स्कूल इन्स्पेक्टर लिखते हैं :—

"महासभा के पिछले अधिवेशन के बाद से हमारे प्रान्त के विद्यार्थियों में जो जागृति फैली है, उसकी ओर आपका ध्यान गया होगा। नवजवानों के दिलों में आज एक नये ही ढंग की आग सुलग रही है। इस आन्दोलन के प्रणेता स्वभावतः आप ही हैं और आखिरकार यह जो रूप धारण करेगा, उसके लिए भी आप ही जिम्मेदार होंगे। इसलिए आपकी राय जानने की गरज से इस बारे में मैं नीचे लिखे दो सवाल आपके सामने पेश किया चाहता हूँ।

१—अमन-कानून की समुचित मर्यादा के भीतर रह कर उचित अवसर पर विद्यार्थियों का मातृभूमि के प्रति प्रेम प्रकट करना, अथवा स्वराज्य के लिए अपनी लगन का परिचय कराना मेरी नजर में तनिक भी बुरा नहीं है। पर जब वे समय, असमय हर वक्त, द्वेष पूर्ण क्रान्ति के नारे बुलन्द किया करते हैं, तो उसमें मुझे स्पष्ट हिंसा नजर आती है। 'डाउन डाउन' विथ दी यूनियन जैक'! वगैरा नारे आपको इसी किस्म के नहीं लगते ?

२—हमारे मदरसों और कालेजों में विद्यार्थियों के चारित्र्य-गठन के लिए कुछ भी नहीं किया जाता। क्या आप विद्यार्थियों को यह सलाह देंगे कि वे अपने विद्यार्थी-धर्म को बिलकुल भुला कर सभ्यता और अनुशासन को बालाये-ताक रख दें, तथा सार्वजनिक जीवन में आकर

अपनी मर्यादा को भूल जांय ? क्या नवजवानों के चारित्र्य का संगठन करना उनके तमाम हितचिन्तकों का मुख्य कर्तव्य नहीं है ?"

इन नारों या पुकारों के बारे में तो मैं 'यंग इंडिया' के अभी हाल के एक पिछले अंक में विस्तार के साथ लिख चुका हूँ। मैं पूरी तरह मानता हूँ कि 'डाउन विथ दी यूनियन जैक !' के नारे में हिंसा की गंध है। इसी तरह के और जो नारे आजकल चल पड़े हैं, वे भी अहिंसा की दृष्टि में दोष-पूर्ण मालूम होते हैं। अहिंसा को कार्य नीति मानने वाले भी उनका उपयोग नहीं कर सकते। इससे कोई लाभ नहीं, उलटे नुकसान हो सकता है। संयमी नवजवानों के मुँह में ये नारे शोभा नहीं देते, सत्याग्रह के तो ये विरुद्ध हैं ही।

अब हम इन पत्र लेखक के दूसरे प्रश्न पर विचार करेंगे। मालूम होता है कि वह इस बात को भूल गये हैं कि अधिकारियों ने जैसा बोया है, वैसा ही वे आज काट भी रहे हैं। हमारे विद्यार्थियों में आज जिन-जिन बातों की कमी पाई जाती है, उन सब बातों के लिए मौजूदा शिक्षा-प्रणाली ही जिम्मेदार है। मेरी सलाह या सहायता अब काम नहीं दे सकती। अब तो शिक्षक विद्यार्थियों से मिल कर उन्हें आशीर्वाद दें और स्वयं स्वराज्य के लिए उनके रहनुमा बनें, तभी दोनों एक होकर स्वराज्य के लिए आगे बढ़ सकते हैं। विद्यार्थियों से हमारे देश का दर्दनाक इतिहास छिपा नहीं है। दूसरे देशों ने किस तरह अपने लिए स्वतन्त्रता प्राप्त की है, यह भी वे जानते हैं। अब उन्हें अपने देश की आज़ादी की जंग में शामिल होने से रोक सकना मुमकिन नहीं। अगर उन्हें अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए ठीक रास्ते से नहीं ले जाया गया, तो उनकी अपरिपक्व और एकाकी बुद्धि जो मार्ग उन्हें सुझाएगी, वे वैसा ही काम करेंगे। कुछ भी क्यों न हो, मैं उन्हें अपना मार्ग बता चुका हूँ और अपना फ़र्ज़ अदा कर चुका हूँ। अगर नवजवानों की इस

नई जागृति का कारण मैं ही हूँ, तो मेरे लिए यह हर्ष की बात है। मेरे कार्यक्रम का एक हेतु यह भी है कि उसके द्वारा मैं उनके इस उत्साह को सच्ची राह पर ले जाऊँ। इतना होते हुए भी अगर कोई बुराई पैदा हो जाय तो उसकी जिम्मेदारी मेरे सिर नहीं डाली जा सकती।

अमृतसर के अभी हाल के बमकाण्ड से होने वाले अत्याचार के लिए दुःख है वह मेरा दुःख शायद ही किसी को हो सके। सरदार प्रतापसिंह के समान सर्वथा निर्दोष नवजवान की आकस्मिक मृत्यु से बढ़ कर करुणाजनक और क्या हो सकता है? क्योंकि बम फेंकने वाले का इरादा उन्हें मारने का नहीं था। हमारे विद्यार्थियों की जिस चारित्र्य की कमी का शिक्षा-विभाग के उक्त निरीक्षक ने जिक्र किया है, ऐसे अत्याचार अवश्य ही उसके सबूत कहे जा सकते हैं। लेकिन शायद यहाँ चारित्र्य शब्द का प्रयोग करना बहुत उचित न हो और अगर बम फेंकने वाले का इरादा सचमुच ही खालसा कालेज के आचार्य को मारने का था, तो यह हमारे भीतर हुए एक भयंकर और गम्भीर रोग का सूचक है। आज हमारे शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच सजीव सम्बन्ध नहीं है। सरकारी और सरकार द्वारा स्वीकृत शिक्षा-संस्थाओं के शिक्षकों में वफादारी की भावना ही काम [illegible], वे अपने आप को वफादार साबित करने और दूसरों को वफादार बनाने की सिखावन देने को अपना कर्तव्य सा मान बैठे हैं। पर अब विद्यार्थियों में सरकार के प्रति स्वामि-भक्ति या वफादारी के कोई भाव ही नहीं रह गये हैं, वे अधीर हो उठे हैं और इसी अधीरता के कारण अब वे बेकाबू होगये हैं। यही वजह है कि अक्सर उनकी शक्ति का विपरीत दिशा में उपयोग होता है। लेकिन इन सब [illegible] के कारण मैं यह नहीं महसूस करता कि मुझे अपनी लड़ाई बन्द कर देनी चाहिये, क्योंकि मुझे तो यही एक मार्ग

साफ़ साफ़ दिखाई पड़ रहा है कि इन दोनों पक्षों की हिंसा के दावानल से जूझते हुए या तो उस पर विजय प्राप्त की जाय या स्वयं उसमें जल कर खाक हो जाया जाय ।

विद्यार्थियों का धर्म

लाहौर से एक भाई बड़ी बढ़िया हिन्दी में एक करुणाजनक पत्र लिखते हैं । मैं उसका सारांश ही नीचे देता हूँ :—

“हिन्दू-मुस्लिम झगड़े और काउन्सिलों के चुनावों के कामों ने असहयोगी छात्रों का मन डाँवाडोल कर दिया है । देश के लिये उन्होंने बहुत त्याग किया है । उसकी सेवा ही उनका मूल मन्त्र है । आज उनका कोई पथ-प्रदर्शक नहीं है । काउन्सिलों के नाम पर वे उछल नहीं सकते, हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों में भी वे पड़ना नहीं चाहते, इसलिए वे उद्देश्यहीन होकर यों ही, बल्कि उससे भी बुरा जीवन बिता रहे हैं. क्या उनकी जीवन-तरी को ऐसे ही बहने दिया जायगा ? कृपाकर यह भी याद रखिये कि इस परिणाम के लिए अन्त में आपही जिम्मेदार ठहरेंगे । यद्यपि नाम मात्र के लिए उन्होंने महासभा की ही आज्ञा मानी थी किन्तु असल में उन्होंने आपके ही हुक्म की तामील की थी । अब क्या उन्हें रास्ता दिखाना आपका कर्तव्य नहीं है ?”

आदमी नाँद भले ही बना लेवे, लेकिन क्या बेरहम घोड़े को भी वह खींच ले जाकर वहाँ खिला भी सकता है ? मुझे इन भले नवयुवकों से सहानुभूति तो अवश्य है, लेकिन उनकी इस अव्यवस्थितता के लिए मैं अपने को दोष नहीं दे सकता हूँ । यदि उन्होंने मेरी आवाज़ सुनी थी तो अब भी उसे सुनने से उन्हें रोकता कौन है ? जिस किसी को सुनने की परवाह होवे, उसे मैं चरखे का मन्त्र सामने को अनिश्चित स्वर में नहीं कहता, लेकिन दरअसल बात तो यह है कि १९२० में उन्होंने मेरी

बात नहीं सुनी थी; (और यह ठीक भी था) किन्तु महासभा की बात सुनी थी, बल्कि उससे भी सही बात यह होगी कि उन्होंने अपनी ही अन्तर्ध्वनि सुनी थी। कांग्रेस का हुक्म उसी की प्रतिच्छाया थी। निषेधात्मक कार्यक्रम के लिये वे तैयार थे। कांग्रेस के कार्यक्रम का रचनात्मक भाग चर्खा, जो अभी भी कांग्रेस का हुक्म है, उनको कुछ जँचता हुआ सा नहीं मालूम होता है। अगर बात ऐसी ही है तो फिर कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का एक और हिस्सा बचा हुआ है — अछूतों की सेवा। यहाँ भी स्वदेश-सेवा के लिए मरने वाले सभी विद्यार्थियों के लिए ज़रूरत से ज्यादा काम है। वे जान लेवें कि वे सभी, जो समाज की नैतिक दृष्टि ऊँची करना चाहते हैं, या जो बेकारी के रोग में ग्रस्त करोड़ों आदमियों को काम देते हैं, स्वराज्य के सच्चे बनाने वाले हैं। विशुद्ध राजनीतिक कार्य को भी वे सहज बना देंगे। इस रचनात्मक कार्य से विद्यार्थियों के अच्छे से अच्छे गुण प्रकट होंगे। स्नातकों और उपस्नातकों---सबके लिए यह उपयुक्त कार्य है।

लेकिन यह भी सम्भव है कि चर्खा या अछूतोद्धार कोई भी उनके लिए जोश दिलाने वाले काम न हों। ऐसी हालत में उन्हें जान लेना चाहिए कि देश की हैसियत से मैं बेकार हूँ। मेरे पास गिने गिनाये नुस्खे हैं। मैं तो मानता हूँ कि सभी बीमारियों की जड़ एक ही है और इसलिए उनका इलाज भी एक ही हो सकता है। अगर वैद्य को क्या उसके पास दवाओं की कमी के लिए दोष दिया जायगा और सो भी तब जब कि वह यही बात पुकार-पुकार कर कह रहा हो?

जिन विद्यार्थियों के विषय में ये सज्जन लिखते हैं, उनमें तो अपने जीवन का [illegible] शक्ति होनी ही चाहिए। स्वावलम्बन का ही नाम स्वराज है।

विद्यार्थियों के प्रति

गुजरात महाविद्यालय के समारंभ के अवसर पर गांधी जी ने विद्यार्थियों को जो भाषण दिया था, उसका सारांश नीचे दिया जाता है :—

इस छुट्टी में तुमने विद्यापीठ के ध्येय पढ़े होंगे। उन पर विचार किया होगा, उनका मनन किया होगा, तो कितनी वस्तुएँ तुम्हारी समझ में आ गई होनी चाहिएं। छुट्टी का उपयोग अगर इस तरह तुमने न किया होगा तो जैसे तुम गए, वैसे ही आए हो।

मैंने तो महाविद्यालय में कई बार कहा है कि तुम संख्याबल का जरा भी परवाह न करो। मैं यह कहना नहीं चाहता कि अगर संख्या बल हो तो वह हमें अप्रिय होगा। किन्तु वह न हो तो हम निराश न बन जांय। ऐसा न मान लेवें कि अब तो सारा चला गया, हाथ में से बाजी जाती रही। हम कम हों अथवा अधिक, मगर हमारा बल तो सिद्धान्तों के स्वीकार में और मनुष्य की शक्ति के अनुसार उनके पालन में है। ऐसे विद्यार्थी कम से कम हों, तो भी हमें विद्यापीठ से जो काम लेना है, और वह काम मुक्ति है- अन्तिम मुक्ति नहीं, किन्तु स्वराज रूपी मुक्ति-जिस स्वराज्य के लिए विद्यापीठ स्थापित हुआ है, वह जरूर होवे। हम अगर झूठे होंगे तो स्वराज्य मिलने से रहा। अभी हाल में जो फेरफार हुए हैं और अब तुम जिन्हें देखोगे, वे तो हम डरते डरते कर सके हैं कि वह कहीं तुम्हारी शक्ति के बाहर न हो जांय। यह कैसी दयावनी स्थिति है। इसमें न तो तुम्हारी शोभा है और न हमारी। होना तो यह चाहिए कि तुम अपने अध्यापकों और संचालकों को यह अभय दान दे दो कि हम इन सिद्धान्तों के पालन में जरा भी कचाई न रखेंगे। यह अभयदान नहीं है, उसी की याचना करने मैं आया हूं। सत्य के आरम्भ से ही तुम अध्यापक वर्ग को निश्चित करो तो काम

दिया ही तो क्या हुआ ? खोटे सिक्के की क्या कीमत ? उसे काम में लाने वाला तो सजा का पात्र होता है। सरकारी शालाओं के विद्यार्थियों की ऐसी ही बुरी स्थिति है। हमारे यहाँ सत्व तो कायम है ही और इतना ही नहीं बल्कि इसमें वृद्धि होती है।

एक दूसरा भेद भी ध्यान में रखना चाहिए। मैं अनेक बार बतला गया हूँ कि सरकारी कालेज में दी जाने वाली शिक्षा के साथ तुम्हारी शिक्षा का मिलान नहीं हो सकता। इस जंजाल में पड़ोगे तो मारे जाओगे, हम उसकी बराबरी नहीं कर सकते। वहाँ जिस तरह अँगरेज़ी पढ़ाई जाती है, उस तरह हमें नहीं पढ़ानी है। किन्तु साहित्य का सूक्ष्म ज्ञान हमें अपनी ही भाषा के द्वारा देना है। हमें करना यह है कि हमारी अपनी भाषा का विस्तार हो, वह शोभे, उसमें गहरे से गहरे विचार प्रदर्शित हो सकें। हिन्दी या गुजराती या हमारी अपनी कोई प्रान्तीय मातृ भाषा बोलते समय हमें अँगरेज़ी शब्द या वाक्य जो बोलने पड़ते हैं, यह बहुत ही बुरी और शर्मनाक स्थिति है। जगत के दूसरे किसी देश की स्थिति ऐसी नहीं है। अँगरेज़ी साहित्य का जितना ज्ञान आवश्यक होगा उतना हम लेंगे। और अब जो ज्ञान लेंगे, हम अपनी ही भाषा—यहाँ पर गुजराती—के जरिये लेंगे। विज्ञान भी अपनी ही भाषा के जरिये पढ़ेंगे। अगर पारिभाषिक शब्द नहीं बना सके तो उन्हें अँगरेज़ी से लेंगे, मगर उनकी व्याख्या तो अपनी ही भाषा में करेंगे। इससे हमारी भाषा जोरदार बनेगी। भाषा के जो अलंकार हमें काम में लाने होंगे, वे हमारी जीभ पर हमारे कलम पर उतरेंगे। आज की बेहूदी दशा "बलहार के हर नाम" बारडोली वालों को परमात्मा ने आप ही कष्ट सहने का 'गाण्डीव' दिया है। उसके प्रभाव से लोग युग-युग का आलस्य छोड़ उठ रहे हैं। बारडोली के किसान हिन्दुस्तान को दिखला रहे हैं कि वे निर्बल भले ही हों, मगर अपने विश्वासों के लिए कष्ट सहन करने का साहस रखते हैं।

अब इतने दिनों बाद सत्याग्रह को अवैध कहने का मौका ही नहीं रहा। यह तो तभी अवैध होगा, जब सत्य और उसका साथी तपश्चर्या अवैध बन जायँगे। लार्ड हार्डिंग ने द० अफ्रीका के सत्याग्रह को आशीर्वाद दिया था और उसके सर्व शक्तिमान यूनियन सरकार को भी झुकना ही पड़ा था। उस समय के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड और बिहार के गवर्नर सर एडवर्ड गेट ने इसकी वैधता और प्रभावकारिता मानी थी और चम्पारन की रैयतों की शिकायतों की जाँच के लिए एक स्वतन्त्र समिति बैठाई थी, जिसके फल-स्वरूप सरकार की प्रतिष्ठा बढ़ी और सौ वर्ष का पुराना अन्याय दूर हुआ। फिर यह खेड़ा में भी स्वीकार किया गया और चाहे आधे मन से ही और कितना अधूरा क्यों न हो, मगर सरकारी अफसरों और आन्दोलकों तथा प्रजा के नेताओं के बीच समझौता हुआ ही था। मध्य-प्रांत के तात्कालिक गवर्नर ने नागपुर झण्डा सत्याग्रहियों से समझौता करना ही ठीक समझा, कैदियों को छोड़ दिया और सत्याग्रहियों के हक़ को स्वीकार कर लिया गया। आखिर और तो और बम्बई के इन्हीं गवर्नर सर लेस्लीविल्सन ने भी शुरू-शुरू में जब तक कि वे संसार के सबसे अधिक योग्य अफसरों के संसर्ग से अछूते थे, बोरसद सत्याग्रह में बोरसद वालों को राहत दी थी।

मैं चाहता हूँ कि गवर्नर साहब और श्रीयुत मुन्शी दोनों ही पिछले चौदह वर्षों की इन घटनाओं की गाँठ बाँध लेवें। अब अचानक आज बारडोली के सत्याग्रह को अवैध घोषित नहीं किया जा सकता है। हकीकत तो यह है कि सरकार के पास कोई दलील नहीं है। वह अपनी लगान नीति का विरोध खुली जाँच में होने देना नहीं चाहती। अगर बारडोली वाले आखिरी जाँच की [illegible], तो वह तो खुली जाँच में क्या- वैसी ही या [illegible] को [illegible]। अपनी शिकायत के लिए, निष्पक्ष अदालत के सामने सुनवाई का दावा तो उनका निर्विवाद है।

विद्यार्थियों के लिए—

'हरिजन' के एक पिछले अङ्क में आपने 'एक युवक की कठिनाई' शीर्षक एक लेख लिखा है, जिसके सम्बन्ध में मैं आपको नम्रता-पूर्वक लिख रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि आपने उस विद्यार्थी के साथ न्याय नहीं किया। उसके सवाल का आपने जो जवाब दिया है, वह सन्दिग्ध और सामान्य रूप का है। आपने विद्यार्थियों से यह कहा है कि, वे झूठी प्रतिष्ठा का खयाल छोड़ कर साधारण मज़दूरों की तरह बन जायँ। यह सब सिद्धान्त की बात आदमी को कुछ बहुत रास्ता नहीं सुझाती और न आप जैसे बहुत ही व्यावहारिक आदमी को यह बात शोभा देती है। इस प्रश्न पर आप विस्तार के साथ विचार करने की कृपा करें और नीचे मैं जो उदाहरण दे रहा हूँ, उसमें क्या रास्ता निकाला जाय, इसका तफ़सीलवार व्यावहारिक और व्यापक उत्तर दें।

मैं लखनऊ यूनीवर्सिटी में एम० ए० का विद्यार्थी हूँ। प्राचीन भारतीय इतिहास मेरा विषय है। मेरी उम्र क़रीब २१ साल की है। मैं विद्या का प्रेमी हूँ और मेरी यह इच्छा है कि जीवन में जितनी भी विद्या प्राप्त कर सकूं, उतनी करूँ। एकाध महीने में मैं एम० ए० फ़ाइ-नल की परीक्षा दे दूंगा और मेरी पढ़ाई पूरी हो जायगी। इसके बाद मुझे 'जीवन में प्रवेश' करना पड़ेगा। मुझे अपनी पत्नी के अलावा चार भाइयों, (मुझ से सब छोटे हैं और एक की शादी भी हो चुकी है) दो बहिनों और माता पिता का पोषण करना है। हमारे पास कोई पूंजी का साधन नहीं है। ज़मीन है, पर बहुत ही थोड़ी।

अपने भाई बहिनों की शिक्षा के लिए मैं क्या करूँ? फिर बहिनों की शादी भी तो जल्दी करनी है। इन सब के अलावा, घर भर के लिए अन्न और वस्त्र का खर्चा कहाँ से लाकर जुटाऊँगा?

मुझे मौज व टीमटाम से रहने का मोह नहीं है। मैं और मेरे आश्रित जन अच्छा निरोगी जीवन बिता सकें और वक्त ज़रूरत का काम अच्छी तरह चलता जाय, तो इतने से मुझे सन्तोष है। दोनों समय स्वास्थ्यकर आहार और ठीक ठीक कपड़े मिलते जांय बस इतना ही मेरे सामने सवाल है।

पैसे के बारे में मैं ईमानदारी के साथ रहना चाहता हूँ। भारी सूद लेकर या शरीर बेच कर मुझे रोज़ी नहीं कमानी है। देश सेवा करने की भी मुझे इच्छा है अपने उस लेख में आपने जो शर्तें रखी हैं, उन्हें पूरा करने के लिए मैं तैयार हूँ।

पर, मुझे यह नहीं सूझ रहा है कि मैं क्या करूँ? शुरूआत कहाँ और कैसे की जाय? शिक्षा मुझे केवल किताबी और अव्यावहारिक मिली है। कभी-कभी मैं सूत कातने की सोच रहा हूँ, पर कातना सीखूँ कैसे और उस सूत का क्या होगा, इसका भी मुझे पता नहीं।

जिन परिस्थितियों में मैं पड़ा हुआ हूँ, उनमें आप मुझे क्या सन्तान-नियमन के कृत्रिम साधन काम में लाने की सलाह देंगे? संयम और ब्रह्मचर्य में मेरा विश्वास है, पर ब्रह्मचारी बनने में मुझे अभी कुछ समय लगेगा। मुझे भय है कि पूर्ण संयम की सिद्धि प्राप्त होने के पूर्व मैं कृत्रिम साधनों का उपयोग नहीं करूँगा, तो मेरी स्त्री के कई बच्चे पैदा हो जायँगे और इस तरह बैठे ठाले आर्थिक बरबादी मोल ले लूँगा, और फिर मुझे ऐसा लगता है कि अपनी स्त्री से, उसके स्वाभाविक भावना-विकास में, कड़े संयम का पालन कराना निष्ठुरता ही, उचित नहीं। आखिरकार दाम्पत्य को पुरुषों के जीवन में विषय भोग के लिए तो स्थान है ही। मैं उतना बलवान् रूप नहीं हूँ। और मेरी स्त्री को, आपके 'ब्रह्मचर्य', 'विषय भोग के खतरे' आदि विषयों के महत्त्वपूर्ण

लेख पढ़ने व समझने का मौक़ा नहीं मिला, इसलिए वह इससे भी कम तैयार है।

मुझे अफ़सोस है कि पत्र ज़्यादा लम्बा हो गया है, पर मैं संक्षेप में लिखकर इतनी स्पष्टता के साथ अपने विचार ज़ाहिर नहीं कर सकता था। इस पत्र का आपको जो उपयोग करना हो, वह आप खुशी से कर सकते हैं।"

यह पत्र मुझे फरवरी के अन्त में मिला था, पर जवाब मैं इसका अब लिख रहा हूँ। इसमें ऐसे महत्व के प्रश्न उठाये गये हैं कि हरएक की चर्चा के लिये इस अख़बार के दो-दो कालम चाहिएँ, पर मैं संक्षेप में ही जवाब दूंगा।

इस विद्यार्थी ने जो कठिनाइयाँ बताई हैं, वे देखने में गम्भीर मालूम होती हैं, पर वे उसकी खुद की पैदा की हुई हैं। इन कठिनाइयों के नाम निर्देष पर से ही जान लेना चाहिए कि इस विद्यार्थी की और अपने देश की शिक्षा-पद्धति की स्थिति कितनी खोटी है? यह पद्धति शिक्षा को केवल बाज़ारू, बेचकर पैसा पैदा करने की चीज़ बना देती है। मेरी दृष्टि से शिक्षा का उद्देश्य बहुत ऊँचा और पवित्र है। यह विद्यार्थी अगर अपने को करोड़ों आदमियों में से एक माने तो वह देखेगा कि वह अपनी डिग्री से जो आशा रखता है, वह करोड़ों युवक और युवतियों से पूरी नहीं हो सकती। अपने पत्र में उसने जिन सम्बन्धियों का ज़िक्र किया है, उनकी परवरिश के लिये वह क्यों ज़वाबदार बने? बड़ी उम्र के आदमी अच्छे मज़बूत शरीर के हों, तो वे अपनी आजीविका के लिये मेहनत-मज़ूरी क्यों न करें? एक उद्योगी मधुमक्खी के पीछे—भले ही वह नर हो, बहुत सी आलसी मधुमक्खियों का रखना ग़लत तरीका है।

इस विद्यार्थी की उलझन का इलाज, उसने जो बहुत सी चीज़ें सीखी हैं उनके भूल जाने में ही है, उसे शिक्षा सम्बन्धी अपने विचार बदल देने चाहिए। अपनी बहिनों को वह ऐसी शिक्षा क्यों दे जिस पर इतना ज्यादा पैसा ख़र्च करना पड़े? वे कोई उद्योग-धन्धा वैज्ञानिक रीति से सीख कर अपनी बुद्धि का विकास कर सकती हैं। जिस क्षण वे ऐसा करेंगी, उसी क्षण वे शरीर के विकास के साथ मन का विकास कर लेंगी और अगर वह अपने को समाज का शोषण करने वाली नहीं, किन्तु सेविकाएँ समझना सीखेंगी, तो उनके हृदय का अर्थात् आत्मा का विकास होगा और वे अपने भाई के साथ आजीविका के अर्थ काम करने में समान हिस्सा लेंगी।

पत्र लिखने वाले विद्यार्थी ने अपनी बहिनों के ब्याह का उल्लेख किया है। उसकी भी यहाँ चर्चा कर लूँ। शादी 'जल्दी' होगी ऐसा लिखने का क्या अर्थ है यह मैं नहीं जानता। बीस साल की उम्र न हो जाय तब तक उनकी शादी करने की ज़रूरत ही नहीं और अगर वह अपने जीवन का सारा क्रम बदल लेगा तो वह अपनी बहिनों को अपना-अपना वर खुद ढूँढ़ लेने देगा; और विवाह-संस्कार में पाँच रुपये से अधिक खर्च होना ही नहीं चाहिए। मैं ऐसे कितने ही विवाहों में उपस्थित रहा हूँ और उनमें उन लड़कियों के पति या बड़े-बूढ़े खासी अच्छी स्थिति के ग्रेजुएट थे।

कातना कहाँ और कैसे सीखा जा सकता है, उसे इसका भी पता नहीं। उसकी यह लाचारी देखकर करुणा आती है। लखनऊ में वह प्रयत्न पूर्वक तलाश करे, तो कातना सिखाने वाले उसे कहीं कई युवक मिल सकते हैं, पर उसे अकेला कातना सीखकर बैठे रहने की ज़रूरत नहीं। हालाँकि सूत कातना भी पूरे समय का धन्धा होता जा रहा है और वह आम-तौर वालों और पुरुषों को पर्याप्त आजीविका दे

सकने वाला उद्योग बनता जा रहा है। मुझे आशा है कि मैंने जो कहा है उसके बाद बाकी का सब अर्थ विद्यार्थी खुद समझ लेगा।

अब सन्तति-नियमन के कृत्रिम साधनों के सम्बन्ध में यहाँ भी उसकी कठिनाई काल्पनिक ही है। यह विद्यार्थी अपनी स्त्री की बुद्धि को जिस तरह आँक रहा है, वह ठीक नहीं। मुझे तो जरा भी शङ्का नहीं कि अगर वह साधारण स्त्रियों की तरह है, तो पति के संयम के अनुकूल वह सहज ही हो जायगी। विद्यार्थी खुद अपने मन से पूछकर देखे कि उसके मन में पर्याप्त संयम है या नहीं? मेरे पास जितने प्रमाण हैं, वे तो सब यही बताते हैं कि संयम-शक्ति का अभाव स्त्री की अपेक्षा पुरुष में ही अधिक होता है, पर इस विद्यार्थी को अपनी संयम रखने की अशक्ति कम समझ कर उसे हिसाब में से निकाल देने की ज़रूरत नहीं। उसे बड़े कुटुम्ब की सम्भावना का मर्दानगी के साथ सामना करना चाहिए और उस परिवार के पालन-पोषण का अच्छे से अच्छा जरिया ढूंढ़ लेना चाहिए। उसे जानना चाहिए कि करोड़ों आदमियों को इन कृत्रिम साधनों का पता ही नहीं। इन साधनों को काम में लाने वालों की संख्या बहुत होगी तो कुछेक हज़ार की होगी। उन करोड़ों को इस बात का भय नहीं होता कि बच्चों का पालन वे किस तरह करेंगे, यद्यपि बच्चे वे सब माँ बाप की इच्छा से पैदा नहीं होते। मैं चाहता हूँ कि मनुष्य अपने कर्मों के परिणाम का सामना करने से इनकार न करे। ऐसा करना कायरता है। जो लोग कृत्रिम साधनों को काम में लाते हैं, वे संयम का गुण नहीं सीख सकते। उन्हें इसकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी। कृत्रिम साधनों के साथ भोगा हुआ भोग बच्चों का आना तो रोकेगा, पर पुरुष और स्त्री दोनों की—स्त्री की अपेक्षा पुरुष की अधिक जीवन-शक्ति को वह चूस लेगा। आसुरी वृत्ति के खिलाफ़ युद्ध करने से इनकार करना नामर्दी है। पत्र लेखक अगर अनचाहे बच्चों को रोकना

चाहता है, तो उसके सामने एक मात्र अचूक और सम्मानित मार्ग यही है कि उसे संयम पालन करने का निश्चय कर लेना चाहिए। सौ बार भी उसके प्रयत्न निष्फल जाँय तो भी क्या ? सच्चा आनन्द तो युद्ध करने में है, उसका परिणाम तो ईश्वर की कृपा से ही आता है।

विद्यार्थियों को सन्देश

गुजरात महाविद्यालय का भाषण:—

१९२१ कहाँ और कहाँ १९२९। इसे निराशा के उद्‌गार न मानियेगा। हमारा यह देश पीछे नहीं हट रहा है, हम भी पीछे नहीं हट रहे हैं। स्वराज्य पाँच साल आगे बढ़ा है इससे कोई इन्कार ही नहीं कर सकता। यदि कोई कहे कि १९२१ में स्वराज्य अभी मिला, अभी मिला, ऐसा मालूम हो रहा था, परन्तु आज तो क्या मालूम कितनी दूर हो गया है, तो उसकी यह निराशा मिथ्या ही समझियेगा। शुभ प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं होता और मनुष्य की सफलता भी उसके शुभ प्रयत्न में ही है। परिणाम फल का स्वामी तो केवल एक ईश्वर ही है। संख्या बल पर तो केवल डरपोक लोग ही कूदा करते हैं। आत्मबल से बलवान तो अकेला ही रण में कूद पड़ता है, इस विद्यापीठ में आत्म-बल का विकास करने के लिए ही हम लोग इकट्ठे हुए हैं, फिर उसमें साथ देने वाला चाहे एक हो या अनेक। आत्मबल ही सच्चा बल है, और सत्य निश्चय है। परन्तु यह निश्चय मानियेगा कि यह बल, तपश्चर्या, त्याग, दृढ़ता, श्रद्धा और नम्रता के बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

इस विद्यालय का आरम्भ आत्म शुद्धि के बल पर किया गया है। अहिंसात्मक असहयोग उसी का स्वरूपमात्र है। असहयोग के 'अ' का अर्थ सरकारी मदरसा इ० का त्याग है। परन्तु जब तक हम अन्त्यजों के साथ सहयोग न करेंगे, प्रत्येक धर्म के मनुष्य दूसरे धर्म के मनुष्यों

के साथ सहयोग न करेंगे, खादी और चर्खे को पवित्र स्थान देकर हिन्दुस्तान के करोड़ों मनुष्यों के साथ सहयोग न करेंगे तब तक तो यह 'अ' निरर्थक ही रहेगा। उसमें अहिंसा नहीं है, उसमें हिंसा अर्थात् द्वेष है। विधि के बिना निषेध ऐसा है, जैसा कि जीव के बिना देह। उसे तो अग्नि-संस्कार करना ही शोभा देगा।

सात लाख गाँवों में सात हज़ार रेलवे स्टेशन हैं। इन सात हज़ार गाँवों के लोगों से भी हमारा परिचय नहीं है। रेल से दूर रहने वाले ग्रामवासियों का ख़याल तो हमें इतिहास पढ़ने पर ही हो सकता है। उनके साथ निर्मल सेवा-भाव-युक्त सम्बन्ध जोड़ने का एक मात्र साधन चर्खा है। इसे अब तक जो लोग नहीं समझ सके हैं, उनका इस राष्ट्रीय महाविद्यालय में रहना मैं निरर्थक ही समझूँगा। जिसमें हिन्दुस्तान के ग़रीबों का विचार नहीं किया हुआ होता, जिसमें उनके दारिद्र को दूर करने के साधनों की योजना नहीं की जाती है, उसमें राष्ट्रीयता नहीं है। प्रत्येक ग्रामवासी के साथ सरकार का सम्बन्ध लगान वसूल करने में ही समाया होता है। चरखे के द्वारा उनकी सेवा करके हम उनके साथ अपने सम्बन्ध का आरम्भ कर सकते हैं। परन्तु खादी पहनने में और चर्खा चलाने में ही उस सेवा की परिसमाप्ति नहीं होती है। चरखा तो उस सेवा का केन्द्र मात्र है। दूर के किसी गाँव में जाओ और किसी छुट्टियों के दिनों में जाकर आप रहेंगे, तो मेरे इन वचनों के सत्य को आप अनुभव करेंगे। लोगों को आप निस्तेज और भयभीत हुए देखेंगे। वहाँ आपको मकानों के भग्नावशेष ही दिखाई देंगे। वहाँ आपको पशुओं की स्थिति भी बड़ी दयाजनक प्रतीत होगी और फिर भी आपको वहाँ आलस्य दिखाई देगा। लोगों को चरखे का स्मरण होगा, परन्तु चरखे की या किसी भी प्रकार के दूसरे उद्योग की बात उन्हें रुचिकर न मालूम होगी। उन्होंने आशा का त्याग कर दिया है। वे

मरने के शोक से जी रहे हैं। यदि आप चरखा चलावेंगे, तो वे भी चरखा चलावेंगे। तीन सौ मनुष्यों के एक गाँव में १०० मनुष्य भी चरखा चलावेंगे, तो कम से कम उस गाँव में १८००) की आमदनी बढ़ेगी। इतनी आमदनी के आधार पर आप हरएक गाँव की सफ़ाई और आरोग्य-विभाग की नींव डाल सकते हैं। यह काम करने में तो बड़ा आसान जान पड़ता है, परन्तु उसे करना बड़ा मुश्किल है। परन्तु श्रद्धा के सामने वह आसान हो जावेगा। "मैं एक हूँ और सात लाख गाँवों को कैसे पहुँच सकूंगा" ऐसा अभिमानयुक्त ग़लत हिसाब न गिनना। आप एक यदि एक ही गाँव में आसनबद्ध होकर बैठ जाओगे, तो दूसरों का भी यही हाल होगा, ऐसा विश्वास रखकर जब काम करोगे, सभी कहीं देशोन्नति होगी।

आपको ऐसे सेवक बनना ही इस विद्यालय का काम है, उसमें यदि आपको दिलचस्पी नहीं है तो आपके लिये यह विद्यालय रसहीन और त्याज्य है।

विद्यार्थियों में जागृति

बारडोली का सन्देश अभी तक पूरा-पूरा लोगों को नहीं पहुँच पाया है। मगर अपूर्ण होने पर भी इसने हमें ऐसे पाठ पढ़ाये हैं, जो हम सहज ही भूल नहीं सकते। इसने हमारे मुर्दा दिलों में जान फूंकदी है, नयी आशा दी है। इसने दिखला दिया है कि सार्वजनिक रूप से, विश्वास नहीं बल्कि नीति के तौर पर, जैसे कि और कई सद्गुणों का पालन हम करते हैं, अहिंसा के पालन से कौन-कौन से और कैसे-कैसे महान कार्य हो सकते हैं। बम्बई में श्रीयुत वल्लभ भाई पटेल के सम्मान में किये गये महान प्रदर्शन का जो आँखों देखा वर्णन मैंने सुना है और उन्हें सूद समेत २५,०००) रु० की भेंट चढ़ानी, प्रेम से उनकी गाड़ी

फेर लेनी, भीड़ में से जाते हुए वल्लभ भाई पर रुपयों, गिन्नियों तथा नोटों की वर्षा करनी, सभा में प्रवेश करने पर उनका गगन भेदी जय-जयकार होना आदि बातें इसका प्रमाण हैं कि बारडोली ने अपनी हिम्मत और कष्ट-सहिष्णुता से कैसा परिवर्तन कर डाला है। इससे सर्वत्र खूब जागृति हुई है, मगर विशेष उल्लेखनीय बम्बई में और वहाँ भी विद्यार्थियों में हुई है।

श्रीयुत नारीमैन, और उन बहादुर लड़कों और लड़कियों को मैं बधाई देता हूँ, जिन पर इनका ऐसा आश्चर्यजनक प्रभाव है। और विद्यार्थियों में से भी दर्शकों ने तीन पारसी लड़कियों का नाम अलग चुन लिया है, जिन्होंने अपने अटूट उत्साह और साहस से बम्बई के विद्यार्थी-जगत में जोश की बिजली दौड़ा दी। महादेव देसाई के पास पूना के किसी कॉलेज के एक लड़के का पत्र आया है कि वहाँ के विद्यार्थियों ने अपने आप ही गत अर्थात् जुलाई को विद्यार्थियों का बारडोली दिवस मनाया, और सब काम काज बन्द रखा और चन्दे जमा किये, जो स्वेच्छा-पूर्वक मिलने गये। परमात्मा करे कि सरकारी कॉलेजों और स्कूलों के विद्यार्थियों का यह साहस कभी जाता न रहे, और न ऐन मौके पर ही टूट जाय। विद्यार्थियों ने बारडोली-कोष के लिये जो आत्म-त्याग किये हैं, उनके बारे में आए हुए पत्र अत्यन्त हृदय-स्पर्शी हैं। गुरुकुल काँगड़ी, वैश्य विद्यालय सांसवणी, नवसारी के निकट सूपा गुरुकुल और घाटकोपर में एक छात्रालय के तथा और कई संस्थाओं के विद्यार्थी, जिनके नाम अभी मुझे याद नहीं हैं, बारडोली-कोष के लिये कुछ रुपये पैदा करने को या तो मिहनत मज़दूरी कर रहे हैं, या एक महीने या कमोबेश मुद्दत के लिये घी, दूध छोड़ रहे हैं।

बारडोली के अनपढ़ किसान और अनपढ़ स्त्रियाँ, जिन्हें अब तक हम स्वातंत्र्य-युद्ध की लड़ने वालियाँ मानते ही नहीं थे, हमें जो पाठ

अपनी कष्ट-सहिष्णुता और धीर साहस से पढ़ा रही हैं, उन्हें अगर हम भूल जायँ तो यह महा अनुचित कहा जायगा। चीन देश के बारे में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि वहाँ के विद्यार्थियों ने ही स्वातंत्र्य-युद्ध चलाया था। मिश्र की सच्ची स्वतंत्रता के प्रयत्नों में वहाँ के विद्यार्थी ही सबसे आगे हैं।

हिन्दुस्तान के विद्यार्थियों से इससे कम की आशा नहीं की जाती है। वे स्कूलों और कॉलेजों में सिर्फ अपने ही लिये नहीं, बल्कि सेवा के लिये पढ़ते हैं या उन्हें पढ़ना चाहिए। उन्हें तो राष्ट्र का हीर—महा मूल्यवान सत्व—होना चाहिए।

विद्यार्थियों के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा होती है, परिणामों के भय जो कि अधिकांश में काल्पनिक ही होते हैं। इसलिये विद्यार्थियों को पहला पाठ पढ़ना है भय के त्याग का। जो लोग शाला से निकाल दिये जाने, या गरीब हो जाने, या मौत से डरते हैं, वे स्वतंत्रता की लड़ाई कभी नहीं जीत सकते। सरकारी शालाओं के लड़कों के लिये सबसे बड़ा डर 'रेस्ट्रिकेशन'—यानी किसी सरकारी शाला में न पढ़ने देने का है। वे समझ लेवें कि साहस के बिना विद्या मोम के पुतले के समान है, जो देखने में तो सुन्दर लगता है, मगर किसी गर्म वस्तु से छुआ नहीं कि पानी-पानी हो बह गया।

विद्यार्थी क्या करें ?

सारे देश की भाँति विद्यार्थियों में भी एक प्रकार की जागृति और अशान्ति फैल गयी है। यह शुभ चिह्न है, लेकिन सहज ही अशुभ भी बन सकता है। भाप को अगर कैद की हो तो उसका वाष्प यन्त्र चलता है और वह अदृश्य शक्ति बनकर किसी दिन हमारी कल्पना से भी अधिक बोझ वहन कर ले जाता है। अगर संग्रह न किया जाय,

तो या तो वह व्यर्थ जाती है या नाशकारी बनती है। उसी तरह विद्यार्थी आदि वर्ग में जो भाप आज पैदा हो रही है, उसका अगर संग्रह न किया जाय, तो वह व्यर्थ जायगी अथवा हमारा ही नाश करेगी; लेकिन अगर उसका बुद्धिपूर्वक संग्रह होगा, तो उसमें से प्रचण्ड शक्ति पैदा होगी।

आज-कल गुजरात कॉलेज (अहमदाबाद) के विद्यार्थियों की जो हड़ताल जारी है, वह इस उत्पन्न भाप का परिणाम है। मैंने जो हकीकत सुनी है, उस पर से मैं मानता हूँ कि विद्यार्थियों की हड़ताल मर्यादानुकूल है और उनकी शिकायत न्याय्य है। उन्होंने फरवरी में साईमन कमीशन के बहिष्कार में भाग लिया था और कॉलेज से गैर-हाज़िर रहे थे। इसलिए उनके सम्बन्ध में आचार्य ने यह निश्चय किया था कि, उनमें से जो परीक्षा में बैठना चाहें वे तीन रुपया फीस जमा करें। जो परीक्षा न दें, उन्हें कोई भी सजा न दी जाय। यह निर्णय कर चुकने के बाद भी, मैं सुन रहा हूँ कि अब आचार्य ने दूसरी ही नीति स्वीकार की है और सब को तीन रुपया देकर परीक्षा में बैठने के लिए मजबूर करते हैं। विद्यार्थियों ने इस हुक्म के विरोध में हड़ताल की है और अगर वस्तुस्थिति ऊपर जैसी ही हो, तो कहना पड़ता है कि विद्यार्थियों के साथ अन्याय हुआ है।

लेकिन, युवक-संघ के अध्यक्ष कहते हैं कि प्रिंसिपल साहब गुस्सा हुए हैं और वह हड़ताल को साम्राज्य के लिए खतरे की चीज़ समझते हैं। हड़ताल निर्दोष है, जवानी के जोश का चिह्न है। उसे जवानी की चेष्टा मात्र समझ कर, प्रिंसिपल साहब खतरे को हटा सकते हैं, लेकिन अगर वह उसे ख़तरा समझ कर, हड़ताल को महा पाप मानें और विद्यार्थियों को कठोर या कैसी ही सज़ा देने का हठ करें, तो आज तो खतरा नहीं है सम्भव है, वह कल बड़ा भारी खतरा बन बैठे।

१८५७ के ग़दर के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए, लार्ड कैनिंग ने कहा था कि—"भारतवर्ष के आकाश में अंगूठे जितना प्रतीत होने वाला बादल एक क्षण में विराट् स्वरूप धारण कर सकता है, और वह ऐसा स्वरूप कब धारण करेगा, कोई कह नहीं सकता। इसलिए चतुर मनुष्यों को चाहिए कि, वे छोटे दीखने वाले निर्दोष बादल की अवगणना न करें, बल्कि उसे चिह्न रूप मानें और उसका योग्य उपचार करें।"

यह हड़ताल अँगूठे जितना बादल है। लेकिन, उसमें से बिजली कड़कने (उत्पन्न होने) की शक्ति पैदा हो सकती है। मैं तो ज़रूर कहता हूँ कि, ऐसी शक्ति पैदा होवे। मुझे वर्तमान ब्रिटिश राज्य-प्रणाली के प्रति न तो भाग है, न प्रेम ही। मैं उसे शैतान की कृति का नाम दे चुका हूँ। मैं निरन्तर इस प्रणाली के नाश की इच्छा किया करता हूँ। यह नाश भारतवर्ष के नवयुवक और नवयुवतियों द्वारा हो, यह सब तरह से इष्ट है। इस नाशक शक्ति को प्राप्त करना विद्यार्थियों के हाथ की बात है। अगर वे अपने में उत्पन्न वाष्प का संग्रह करें, तो आज उस शक्ति को पैदा कर सकते हैं।

पहली बात यह है कि विद्यार्थी अपनी शुरू की हुई हड़ताल को सफल करें। अगर उन्होंने शुरूआत ही नहीं की होती, तो उन्हें कोई कुछ भी न कहता, शुरूआत करने के बाद अगर वे हिम्मत हार कर बैठ जाँय, तो अवश्य ही निन्दा के पात्र बनेंगे और अपने आप को तथा देश को हानि पहुँचायेंगे। हड़ताल का अधिक से अधिक कटु परिणाम तो यही हो सकता है कि प्रिंसिपल साहब विद्यार्थियों का हमेशा के लिए या लम्बे समय के लिए बहिष्कार करें अथवा उन्हें फिर से भर्ती करने के लिए कोई दण्ड निश्चित कर दें। इन दोनों चीज़ों को विद्यार्थियों को हर्ष पूर्वक स्वीकार करना चाहिये। रण-क्षेत्र में कूदने के बाद, वीर पुरुष

कभी पीछे पैर हटाता ही नहीं। इसी तरह ये विद्यार्थी भी अब पीछे नहीं हट सकते।

हाँ, विद्यार्थियों को विनय का त्याग कभी नहीं करना चाहिए। वे आचार्य के या अध्यापक के सम्बन्ध में एक भी कटुए शब्द का उच्चारण न करें। कठोर शब्द अपने बोलने वाले का नुकसान करते हैं, जिनके लिए कहे जाते हैं, उनका नहीं कर सकते। विद्यार्थियों को अपने वचन का पालन करना और कठोर काम करके बतलाना है। उसका असर ज़रूर होगा। उसमें इस राज्य-प्रणाली को नाश करने की शक्ति पैदा हो सकती है, होती है। हमारे युवक और युवतियाँ चीनी विद्यार्थियों के उदाहरण को याद रखें। उनमें के एक दो नहीं, बल्कि पचास हज़ार व्यक्ति गाँवों में फैल गये और थोड़े से समय में उन्होंने छोटे-बड़े सबको आवश्यक अक्षर-ज्ञान देकर तथा दूसरी बातों का ज्ञान कराके तैयार कर लिया। अगर विद्यार्थी स्वराज्य-यज्ञ में बड़ी तादाद में अपना भाग देना चाहते हों, तो उन्हें चीनी विद्यार्थियों के समान कुछ करके दिखलाना चाहिए।

जैसा मैं समझ सका हूँ, उसके अनुसार तो विद्यार्थी शान्ति-मय युद्ध में आहुति देने की इच्छा रखते हैं। लेकिन, मेरे समझने में भूल हो गयी हो, तो भी उपर्युक्त बात तो दोनों प्रकार के—आत्म-बल के और पशु-बल के युद्ध को लागू होती है। अगर हमें गोला बारूद से लड़ना होगा, तो भी संयम का पालन करना पड़ेगा। भाप का संग्रह करना पड़ेगा। एक ख़ास हद तक तो दोनों का रास्ता एक ही है। इस्लाम में खलीफाओं ने, ईसाई धर्म में क्रूसेडरों ने और राजनीति में क्राम वेल तथा उसके योद्धाओं ने भोग-विलास का अपूर्व त्याग किया था। आधुनिक उदाहरण लें, तो लेनिन, सनयातसेन आदि ने सादगी, दुखादि की सहन-शक्ति, भोग त्याग, एकनिष्ठा और सतत जागृति का

योगियों को भी शरमाने वाला नमूना दुनियाँ के सामने पेश किया है। उनके अनुयायियों ने भी वफ़ादारी और नियम-पालन का वैसा ही उज्ज्वल उदाहरण पेश किया है।

हमारे विस्तार का भी यही उपाय है। हमारा त्याग आज भी कोई त्याग नहीं है, वह यत्किंचित है। हमारी नियम पालने की शक्ति थोड़ी है। हमारी सादगी अपेक्षाकृत कम है, हमारी एकनिष्ठा नहीं के बराबर कही जा सकती है, हमारी दृढ़ता और एकाग्रता तो शुरूआत तक ही कायम रहती है। इसलिए देश के नवजवान याद रखें कि उन्हें तो अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है। उन्होंने जो कुछ किया है, वह मेरे ध्यान से बाहर नहीं है। मुझ से स्तुति पाने की उन्हें ज़रूरत होनी नहीं चाहिये। मित्र की स्तुति करने वाला मित्र भाट बन जाता है। मित्र का काम तो कमज़ोरियाँ बता कर उनकी पूर्ति का प्रयत्न करना है।

सविनय अवज्ञा का कर्त्तव्य

गुजरात कॉलेज के लगभग सात सौ विद्यार्थियों को हड़ताल शुरू किये बीस दिन से ज्यादा का समय होचुका है और अब इस हड़ताल का महत्व केवल स्थानीय ही नहीं रहा है। मज़दूरों की हड़ताल काफी बुरी होती है, लेकिन विद्यार्थियों की हड़ताल, फिर वह उचित कारण से जारी की गई हो या अनुचित कारण से, उससे भी बदतर होती है। इस हड़ताल से आख़िर जो नतीजे निकलेंगे, उनकी दृष्टि से यह हड़ताल बदतर है और यह बदतर है उस दर्जे के कारण जो दोनों पक्षों का समाज में है। मजदूर तो अनपढ़ हैं लेकिन विद्यार्थी शिक्षित रहते हैं और हड़तालों के द्वारा वे किसी तरह का भौतिक स्वार्थ-साधन नहीं कर सकते। साथ ही मिल-मालिकों की भाँति शिक्षा-संस्थाओं के मुख्य अधिकारियों के किसी भी स्वार्थ का विद्यार्थियों के स्वार्थ से संघर्ष

नहीं होता। इसके अलावा विद्यार्थी तो शिस्त या नियम-पालन की प्रतिमूर्ति समझे जाते हैं। इस कारण विद्यार्थियों की हड़ताल के परिणाम बहुत व्यापक हो सकते हैं और असाधारण परिस्थितियों में ही उनकी हड़ताल के औचित्य का समर्थन किया जा सकता है।

लेकिन जहाँ सुव्यवस्थित स्कूल और कॉलेजों में विद्यार्थियों की हड़ताल के अवसर बहुत थोड़े होने चाहिएँ, वहाँ यह कोई गैरमुमकिन बात नहीं है कि ऐसे अवसरों की कल्पना की जा सके, जब विद्यार्थियों के लिए हड़ताल कर देना उचित हो। मसलन्, मान लीजिए कि कोई प्रिंसिपल जनता की राय के ख़िलाफ़ कार्रवाई करके किसी देशव्यापी उत्सव या त्यौहार के दिन छुट्टी देने से इनकार कर देता है और यह त्यौहार ऐसा हो कि जिसके लिए पाठशाला या कॉलेज में जाने वाले विद्यार्थियों की माताएँ और विद्यार्थी छुट्टी चाहते हों, तो ऐसी हालत में उस दिन के लिए हड़ताल कर देना विद्यार्थियों के लिए अनुचित होगा। जैसे-जैसे विद्यार्थी-गण अपनी राष्ट्रीय ज़िम्मेवारी को समझने में अधिक जागृत और विचारशील होते जायँगे, तैसे-तैसे भारत में ऐसे अवसरों की तादाद बढ़ती जायगी।

गुजरात-कॉलेज के सम्बन्ध में मैं जहाँ तक निष्पक्ष होकर विचार कर सका हूँ, मुझे विवश होकर कहना पड़ता है कि हड़ताल के लिए विद्यार्थियों के पास काफ़ी कारण थे। लोगों का यह कथन बिलकुल ग़लत है, जैसा कि कई स्थानों में कहा गया है कि हड़ताल थोड़े उत्पाती विद्यार्थियों के द्वारा शुरू की गयी है।

मुट्ठी भर उत्पात मचाने वालों के लिए लगभग सात सौ विद्यार्थियों को दो सप्ताह से भी अधिक समय के लिए एकत्र कर रखना असम्भव है। बात तो यह है कि विद्यार्थियों की रहनुमाई करने और उन्हें सलाह देने वाले ज़िम्मेवार नागरिक हैं। इन सलाहकारों में भी

श्रीयुत मावलणकर मुख्य हैं। आप एक अनुभवी वकील हैं और अपनी बुद्धिमत्ता तथा उदार नीति के कारण प्रसिद्ध हैं। श्रीयुत मावलणकर इस विषय में प्रिंसिपल महाशय की मुलाक़ात लेते रहे हैं और फिर भी उनका यह निश्चित मत है कि,विद्यार्थियों का पक्ष बिल्कुल सच्चा है।

इस सम्बन्ध की ख़ास-ख़ास बातें थोड़े में कही जा सकती हैं। भारत भर के विद्यार्थियों की भांति गुजरात-कॉलेज के विद्यार्थी भी साइमन-कमीशन के बहिष्कार के दिन कॉलेज से गैरहाज़िर रहे हैं। इसमें शक नहीं कि उनकी यह अनुपस्थिति अनधिकार-पूर्ण थी। वे क़ानूनन् क़सूरवार थे। गैरहाज़िर रहने से पहले कम से कम उन्हें शिष्टाचार के ढङ्ग पर ही सही, आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए थी। लेकिन दुनिया भर में लड़के तो सब एक से ही होते हैं न? विद्यार्थियों के उमड़ते हुए उत्साह को रोकना मानों हवा की गति के रोकने का निष्फल प्रयत्न करना है। ज़रा उदारता से देखें तो विद्यार्थियों का यह कार्य जवानी की एक भूल मात्र थी। बड़ी लम्बी बातचीत के बाद प्रिंसिपल साहब ने उनके इस कार्य को माफ़ कर दिया था। इसमें शर्त यह थी कि विद्यार्थी फ़ीस के ३) रु० भरकर तिमाही परीक्षा में ऐच्छिक रूप से सम्मिलित हो सकते हैं; इसमें यह बात गर्भित थी कि विद्यार्थियों में से अधिकतर परीक्षा में बैठेंगे और शेष जो नहीं बैठेंगे, उन्हें किसी भी तरह की सज़ा नहीं दी जायगी। लेकिन यह कहा जाता है कि आख़िर किसी भी कारण से क्यों न हो, प्रिंसिपल साहब ने अपना वचन तोड़ दिया और यह सूचना निकाली कि प्रत्येक विद्यार्थी के लिए ३) भरकर तिमाही परीक्षा में बैठना अनिवार्य है। इस सूचना ने स्वभावतः विद्यार्थियों को उत्तेजित कर दिया। उन्होंने महसूस किया कि अगर समुद्र ही अपनी मर्यादा छोड़ देगा, तो नदी-नाले क्या करेंगे? इसलिए उन्होंने काम करना बन्द कर दिया। शेष बातें तो स्पष्ट ही हैं। हड़ताल अब तक

जारी है और मित्र तथा टीकाकार दोनों, विद्यार्थियों के आत्म-संयम और सद्व्यवहार की एकमत सराहना करते हैं। मेरी तो यह राय है कि किसी भी कॉलेज के विद्यार्थियों का यह परम कर्तव्य है कि अगर प्रिंसिपल अपने दिए हुए वचन को तोड़ें तो वे उनके उस कार्य की सविनय अवज्ञा करें, जैसे कि गुजरात-कॉलेज के प्रिंसिपल के सम्बन्ध में कहा जाता है। जब गुरु स्वयं किसी तरह प्रतिज्ञा-भङ्ग के दोषी हों, उस हालत में अपनी सम्माननीय वृत्ति के कारण गुरु जिस अशेष आदर के अधिकारी हैं, वह अशेष आदर उनके प्रति दिखलाना असम्भव हो जाता है।

अगर विद्यार्थी अपने निश्चय पर डटे रहेंगे तो हड़ताल का एक ही नतीजा होगा और वह यही कि उक्त अपमानजनक सूचना वापस लेली जायगी और इस बात की ठीक प्रतिज्ञा की जायगी कि विद्यार्थी हर तरह की सज़ा से बरी रखे जायँगे। प्रान्तीय सरकार के लिए सबसे अच्छा और औचित्यपूर्ण कार्य तो यह होगा कि वह गुजरात-कॉलेज के लिए किसी दूसरे प्रिंसिपल की नियुक्ति करे।

यह देखा जाता है कि सरकारी कॉलेजों में पढ़ने वाले उन विद्यार्थियों के पीछे खूब जासूसी की जाती है, वे खूब सताये जाते हैं, जो अपने निश्चित राजनैतिक मत रखते हैं और उन राजनीतिक सभाओं में भाग लेते हैं, जिन्हें सरकार नापसन्द करती है। लेकिन अब वह समय आ गया है, जब इस तरह की ख्वामख्वाह दस्तन्दाज़ी बन्द करदी जानी चाहिए थी। भारत के समान जो देश विदेशी राज्य के जूये के नीचे कराह रहा हो, उसके विद्यार्थियों को राष्ट्रीय स्वाधीनता के आन्दोलनों में भाग लेने से रोकना असम्भव है। इस सम्बन्ध में तो केवल यही किया जा सकता है कि विद्यार्थियों के उत्साह को नियमित कर दिया जाय, जिससे उनकी पढ़ाई में कोई रुकावट न पैदा हो। वे जलूसें आदि में तथा

में से किसी एक का पक्ष लेकर उसकी तरफ से लड़ाई में शामिल न हों। लेकिन उन्हें अधिकार तो है कि वे सक्रिय रूप में अपने चुने हुए किसी राजनैतिक दल पर खड़े रहने के लिये आज़ाद हों। शिक्षा-संस्थाओं का काम तो उनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों और विद्यार्थिनियों को शिक्षा देना और उस शिक्षा द्वारा उनके चरित्र का निर्माण करना है। पाठशाला के बाहर विद्यार्थी राजनैतिक या सदाचार से सम्बन्ध न रखने वाले दूसरे जो कुछ भी काम करते हैं, उनमें ऐसी शिक्षा-संस्थायें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकतीं।

विद्यार्थी और हड़तालें

बैंगलोर से एक कॉलेज का विद्यार्थी लिखता है:—

"मैंने हरिजन में आपका लेख पढ़ा है। अण्डमान दिवस, बूचड़खाना, विरोधी-दिवस वगैरा की हड़तालों में विद्यार्थियों को भाग लेना चाहिए या नहीं, इस विषय में मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ।"

विद्यार्थियों की वाणी और आचरण पर लगे हुए प्रतिबन्धों के हटाने की पैरवी मैंने ज़रूर की है, पर राजनीतिक हड़तालों या प्रदर्शनों में उनके भाग लेने का समर्थन मैं नहीं कर सकता। विद्यार्थियों को अपनी राय रखने और उसे ज़ाहिर करने की पूरी-पूरी आज़ादी होनी चाहिए। चाहे जिस राजनीतिक दल के प्रति वे खुले तौर पर सहानुभूति प्रगट कर सकते हैं। पर मेरी राय में अपने अध्ययन-काल में उन्हें सक्रिय रूप से भाग लेने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए। विद्यार्थी राजनीति में सक्रिय भाग लें और साथ-साथ अपना अध्ययन भी जारी रखें, यह नहीं हो सकता। राष्ट्रीय उत्थान के समय इन दोनों के बीच स्पष्ट भेद करना मुश्किल हो जाता है। उस समय विद्यार्थी हड़ताल नहीं करते, या ऐसी परिस्थितियों में 'हड़ताल' शब्द का प्रयोग

किया जा सकता है, तो वह पूरी सामूहिक हड़ताल होती है; उस समय वे अपनी पढ़ाई को स्थगित कर देते हैं। इसलिये जो प्रसंग अपवाद स्वरूप दिखाई देता है, वह भी असल में अपवाद रूप नहीं है।

वास्तव में इस पत्र लेखक ने जो विषय उठाया है, वह कांग्रेसी प्रान्तों में तो उठना ही नहीं चाहिए। क्योंकि वहाँ तो ऐसा एक भी अंकुश नहीं हो सकता, जिसे कि विद्यार्थियों का अधिकांश स्वेच्छा से स्वीकार न करे। अधिकांश विद्यार्थी कांग्रेसी मनोवृत्ति के हैं और होने चाहिएँ। वे ऐसा कोई भी काम नहीं करेंगे, जिससे कि मंत्रियों की स्थिति संकट में पड़ जाय। वे हड़ताल करें तो केवल इसी कारण से करें कि मंत्री उनसे ऐसा कराना चाहते हैं। पर कांग्रेस जब पदों का त्याग करदे और कांग्रेस कदाचित् तत्कालीन सरकार के ख़िलाफ़ अहिंसात्मक लड़ाई छेड़ दे, उस प्रसंग के अलावा जहाँ तक मैं कल्पना कर सकता हूँ, कभी भी कांग्रेसी मंत्री विद्यार्थियों से ऐसा करने के लिए नहीं कहेंगे। और कभी ऐसा प्रसंग आ जाय तब भी, मुझे लगता है कि प्रारम्भ में ही विद्यार्थियों से हड़ताल करने के लिए पढ़ाई स्थगित करने की बात कहना मानों अपना दिवाला पीटना होगा। अगर हड़ताल जैसे किसी भी प्रदर्शन के करने में कांग्रेस के साथ जन-समूह होगा तो विद्यार्थियों को — सिवा बिलकुल आख़िरी वक्त के — उसमें शामिल होने के लिये नहीं कहा जायगा। गत युद्ध में विद्यार्थियों को सबसे पहले लड़ाई में शामिल होने के लिये नहीं कहा गया था, मुझे जहाँ तक याद है, सब से अन्त में उनसे कहा गया था और वह भी केवल कॉलेज के विद्यार्थियों से।

विद्यार्थियों की हड़ताल

गुजरात कॉलेज (अहमदाबाद) के विद्यार्थियों की हड़ताल जब तक पूरे जोश के साथ जारी है, विद्यार्थी जिस दृढ़ता, शान्ति और

संगठन का परिचय दे रहे हैं, वह हर तरह तारीफ़ के क़ाबिल है। अब वे अपनी ताक़त का अनुभव करने लगे हैं। और मेरा तो यह भी विचार है कि अगर ये कोई रचनात्मक कार्य करने लगें, तो उन्हें अपनी ताक़त का और भी ज्यादा पता लगेगा। मेरा तो यह विश्वास है कि हमारे स्कूल और कॉलेज हमें बहादुर बनाने के बदले उलटे खुशामदी, डरपोक, ढुलमुल मिजाज और बेअसर बनाते हैं। मनुष्य की बहादुरी या मनुष्यता किसी को दुतकारने, डींग हांकने या बड़प्पन जताने में नहीं होती, वह तो सच्चे काम को करने का साहस बतलाने में और उस साहस के फल स्वरूप सामाजिक राजनैतिक या दूसरे मामलों में जो कुछ कठिनाइयां पेश हों उन्हें झेल लेने में होती है। मनुष्य की मनुष्यता उसके कामों से प्रकट होती है, शब्दों से नहीं। और अब ऐसा समय आ गया है, जब शायद विद्यार्थी वर्ग को बहुत लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़े। अगर समय ऐसा ही आता जाय तो भी उन्हें हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। तब तो सर्व साधारण जनता का यह काम होगा कि वह इस मामले में दस्तन्दाजी करे, उसे सुलझाने की कोशिश करे। और उस हालत में तो भारत भर के विद्यार्थी-जगत का भी यह कर्तव्य हो जायगा कि वह अपने हक़ को क़ायम रखने के लिए जो उसका अपना सच्चा हक़ है लड़े, या कोशिश करे। जो लोग इस मसले को पूरी तरह जान लेना चाहते हैं उन्हें इस हड़ताल के मुताल्लिक़ ख़ास ख़ास कागज़ात की नक़ल श्री मावलणकर से मिल सकेगी। अहमदाबाद के विद्यार्थियों की लड़ाई अकेले उनके अपने हक़ों की लड़ाई नहीं है वे तो सर्व साधारण विद्यार्थी-जगत के सम्मान की लड़ाई लड़ रहे हैं और इसलिए एक तरह यह लड़ाई राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा के लिए भी लड़ी जाती है। अहमदाबाद के विद्यार्थियों की तरह जो लोग साहस के साथ लड़ रहे हों वे हर तरह जनता की पूरी मदद के पात्र हैं।

मुझे पक्का भरोसा है कि अगर विद्यार्थी किसी राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य में लग गये, तो उन्हें जनता की मदद भी अवश्य ही मिलेगी। राष्ट्रीय काम करने से उनका कोई नुक़सान नहीं होगा। यह कोई ख़ास जरूरत नहीं है कि वे महासभा के कार्यक्रम को ही अपनावें, बशर्ते कि वह उन्हें पसन्द न हो। खास बात तो यह है कि वे मिल कर स्वतन्त्र और ठोस काम करके यह बता दें कि उनमें संगठित होकर स्वतन्त्र एवं ठोस काम करने की योग्यता है। हमारे खिलाफ़ अक्सर जो बात कही जाती है, वह तो यह है कि हम बढ़-बढ़ कर बोलना जानते हैं और निरर्थक क्षणिक प्रदर्शन कर सकते हैं, लेकिन जब हमें मिल कर सहयोग पूर्वक साहस और अडग दृढ़ता के साथ काम करने को कहा जाता है, तो हमारे हाथ पैर ढीले पड़ जाते हैं। विद्यार्थियों के लिये इससे अच्छा मौक़ा और क्या होगा कि वे इस कलंक को झूठा साबित करदें। क्या वे अपने को इस मौक़े के काबिल साबित करेंगे?

चाहे जो हो जाय, उन्हें अपने विश्वास पर डटे रहना चाहिए। कॉलेज राष्ट्र का धन है। अगर हम पतित न बन जाते, तो एक विदेशी सरकार का यह साहस न हो सकता था कि वह हमारी सम्पत्ति पर कब्ज़ा कर बैठे अथवा विद्यार्थियों को देश की स्वाधीनता की लड़ाई में भाग लेने के कारण प्रायः अपराधी करार दे, जब कि राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई में आगे बढ़ कर भाग लेना विद्यार्थियों का एक जरूरी कर्तव्य और हक होना चाहिए था।

विद्यार्थियों का सुन्दर सत्याग्रह

नवजीवन में अनेक बार लिखा जा चुका है कि सत्याग्रह सर्व व्यापक होने के कारण, जिस भाँति राजनीतिक क्षेत्र में किया जा सकता है, उसी भाँति सामाजिक क्षेत्र में भी, और जिस भाँति राज कर्त्ता के

विरुद्ध, उसी भांति समाज के खिलाफ, कुटुम्ब के विरुद्ध, माता के, पिता के, स्त्री के, पति के विरुद्ध यह दिव्य अस्त्र काम में लाया जा सकता है। क्योंकि उसमें हिंसा की गंध सी भी नहीं हो सकती, और जहाँ अहिंसा यानी केवल प्रेम ही प्रेरक वस्तु हो, वहाँ चाहे जिस स्थिति में इस शस्त्रका उपयोग निडर होकर किया जा सकता है। ऐसा उपयोग धर्मज (खेड़ा जिले में एक स्थान) के विद्यार्थियों ने धर्मज के लोगों के विरुद्ध थोड़े ही दिन पहले कर दिखाया। उस सम्बन्ध के कागज पत्र मेरे पास आये हैं। उनसे नीचे लिखी बातें मालूम हो जाती हैं।

थोड़े दिन पहले किसी गृहस्थ ने अपनी माता के बारहीं (बारह वें दिन का श्राद्ध) के दिन बिरादरी का भोज कराया। भोज से एक दिन पहले इस विषय पर नौजवानों से बहुत चर्चा हुई। उन्हें और कई गृहस्थों को ऐसे भोजों से अरुचि तो हुई थी ही। और इस बार विद्यार्थी मंडल ने सोचा कि कुछ न कुछ तो कर ही लेना चाहिये। अन्त में बहुतों ने नीचे लिखी तीनों या एक प्रतिज्ञाएँ लीं कि:—

"सोमवार ता० २३-१-१६२८ के दिन बारहीं के लिये जो बड़ा भारी भोज होने वाला है, उसमें न तो पंगत में बैठ कर न छन्ना ही घर मँगा कर भोजन करेंगे। (२) इस रूढ़ि के विरुद्ध अपना सख्त विरोध दिखलाने के लिए उस दिन उपवास करेंगे, (३) इस काम में अपने घर या कुटुम्ब में से जो कष्ट सहना पड़े, वह शान्ति और राजी खुशी से सहेंगे।"

और इसलिए भोज के दिन बहुत से विद्यार्थियों ने, जिनमें कितने तो नाजुक लड़के थे, उपवास किया। इस काम से विद्यार्थियों ने बड़े गिने जाने वाले लोगों का कोप अपने माथे लिया है। ऐसे सत्याग्रह में विद्यार्थियों को शारीरिक जोखिम भी कम नहीं होता है। गुरुजनों ने विद्यार्थियों को समझाया कि तुम्हें जो अधिक मदद मिलती है वह छीन

ली जायगी और हम तुम्हें अपने मकान में नहीं रहने देंगे, पर विद्यार्थी तो अटल रहे। भोज के दिन २८९ विद्यार्थी भोज में शामिल नहीं हुए और कितनों ने तो उपवास भी किया।

ये विद्यार्थी धन्यवाद के पात्र हैं। मैं उम्मेद करता हूँ कि हर एक अवाह सामाजिक सुधार करने में विद्यार्थी आगे बढ़ कर हाथ बटायेंगे। जिस भाँति स्वराज्य की चाभी विद्यार्थियों के हाथ में है, उसी भाँति वे समाज सुधार की चाभी भी अपने जेब में लिए फिरते हैं। सम्भव है कि प्रमाद अथवा लापरवाही के कारण [illegible] पड़ी एक अमूल्य वस्तु का पता न हो। पर मैं आशा रखता हूँ कि धर्मज के विद्यार्थियों को देख कर दूसरे विद्यार्थी अपनी शक्ति का नाप लगा लेंगे। मेरी दृष्टि से तो उस स्वर्गवासी भाई का सच्चा श्राद्ध विद्यार्थियों ने ही उपवास करके किया। जिसने भोज किया उसने तो अपने धन का दुरुपयोग किया, और गरीबों के लिए बुरा उदाहरण रखा। धनिक वर्ग को परमात्मा ने धन दिया है कि वे उसका परमार्थ में उपयोग करें। उन्हें समझना चाहिये कि विवाह या श्राद्ध के अवसर पर भोज करना गरीबों के बूते से बाहर है। उन्हें यह भी जानना चाहिये कि इस खराब रूढ़ि से कितने गरीब पैमाल हुए हैं। बिरादरी के भोज में जो धन धर्मज में खर्च हुआ, वही अगर गरीब विद्यार्थियों के लिए, गोरक्षा के लिए, अथवा खादी के लिए या अंत्यज सेवा के लिए खर्च होता तो वह उन मित्रता और मृतात्मा को शान्ति मिलती। भोज को तो सब कोई भूल जायेंगे, उसका लाभ किसी को मिलेगा नहीं, और विद्यार्थियों को तथा धर्मज के दूसरे समझदार लोगों को इससे दुख हुआ।

जिस भोज के लिए सत्याग्रह हुआ था, वह बंद न रहा। इस लिए कोई यह शंका न करे कि सत्याग्रह से क्या लाभ हुआ? विद्यार्थी यह आप जानते थे कि उनके सत्याग्रह का तात्कालिक असर होने की

सम्भावना कम है, पर उनमें अगर यह जागृति क़ायम रही, तो फिर कोई सेठ बारहीं करने का नाम तक न लेगा। बारह वर्ष का कोढ़ एक दिन में नहीं छूटता। उसके लिये धैर्य और आग्रह की ज़रूरत होती है।

महाजन समझा जाने वाला वृद्धवर्ग क्या समय का विचार नहीं करेगा? रूढ़ि को समाज अथवा देश की उन्नति का साधन न गिनकर वह कहाँ तक उनका गुलाम बना रहेगा? अपने बालकों को ज्ञान लेने देगा और फिर उन्हें उस ज्ञान का उपयोग करने से कब तक रोकेगा? धर्माधर्म का विचार करने वाले शिथिलता रखते हैं। शिथिलता छोड़ सावधान होकर, वे कब सच्चे महाजन होंगे?

बहिष्कार और विद्यार्थी

एक कॉलेज के प्रिंसिपल लिखते हैं:—

"बहिष्कार आन्दोलन के सञ्चालक विद्यार्थियों को अपने आन्दोलन में खींचे लिये जा रहे हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि इस आन्दोलन में विद्यार्थियों के काम की क़ीमत कोई एक कौड़ी भी नहीं समझेगा। जब लड़के अपने स्कूल और कॉलेज छोड़ कर किसी प्रदर्शन में शामिल होते हैं, तब वे वहाँ के हुल्लड़बाज़ लोगों में मिल जाते हैं, और बदमाशों की सभी कारिस्तानियों के लिये ज़िम्मेवार होते हैं तथा अक्सर पुलिस के डण्डे के पहले शिकार होते हैं। इसके अलावा उनके स्कूल या कॉलेज के अधिकारी उनसे रुष्ट हो जाते हैं, जिनकी दी सज़ा उन्हें सहनी ही पड़ती है, और वे अपने अभिभावकों की हुक्म उदूली करते हैं, और शायद उन्हें ख़र्च देने से इन्कार कर देवें और यों उनका सत्यानाश हो जा सकता है। मैं ऐसे युवक-आन्दोलन की बात समझ सकता हूँ कि लड़के छुट्टी के दिनों में अज्ञान किसानों को पढ़ाने, सफ़ाई के नियम सिखलाने इत्यादि कामों को करें। मगर यह देख कर तो कष्ट होता है

कि वे अपने ही माँ-बाप और शिक्षक का विरोध करें, और बुरे लोगों के साथ घूमने निकल जायँ, और नियम और शान्ति का भङ्ग करने में हाथ बटावें। क्या आप राजनीतिज्ञों को यह सलाह देंगे कि वे अपने प्रदर्शनों को ज्यादा बाअसर बनाने के लिये विद्यार्थियों को उनके योग्य काम से खींच न बुलावें। दरअसल इससे भी वे अपने प्रदर्शनों की क़ीमत घटा रहे हैं, क्योंकि सहज ही कहा जा सकता है कि यह तो स्वार्थी और मूर्ख आन्दोलकों के बहकाये नासमझ लड़कों का काम है।

"उनके वर्तमान राजनीति सीखने का विरोध मैं नहीं करता। यह तो बड़ी अच्छी बात होगी, अगर किसी सामयिक प्रश्नों पर अख़बारों में दोनों ओर के छपे मत चुन कर शिक्षक विद्यार्थियों को पढ़ सुनावें, और उन्हें अपना निर्णय आप करना सिखलावें। मैंने इस प्रयोग में सफलता पायी है। सच पूछिये तो विद्यार्थियों के लिये कोई विषय मना या अपाठ्य है ही नहीं। बर्टेण्ड रसेल और दूसरों का तो कहना है कि विद्यार्थियों को स्त्री पुरुष के सम्बन्ध की बातें भी बतलानी चाहिए। मैं जी-जान से विरोध करता हूँ तो इस बात का, कि विद्यार्थियों को ऐसे काम में आला बना लिया जाय, जिससे न तो उनका कोई काम सधता है, और न उनसे काम लेने वालों का ही। पत्र-लेखक ने इस आशा से पत्र लिखा है कि मैं विद्यार्थियों के सक्रिय राजनीतिक कामों में शरीक होने का विरोध करूँगा। मगर मुझे उन्हें निराश करते हुए खेद होता है। उन्हें यह जानना चाहिए था कि सन् १९२०–२१ में विद्यार्थियों को उनके स्कूलों, कालेजों से बाहर निकाल कर राजनीतिक काम करने को कहने में, जिसमें जेल जाने का भी ख़तरा था, मेरा हाथ कुछ कम नहीं था। मेरी समझ में अपने देश के राजनीतिक आन्दोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लेना उनका स्पष्ट कर्तव्य है। सारे संसार के विद्यार्थी यह कर रहे हैं। हिन्दुस्तान में जहाँ कि हाल तक राजनीतिक जागृति महज

थोड़े से अंग्रेज़ीदाँ लोगों तक परिमित थी, उनका यह और भी बड़ा कर्त्तव्य है। चीन और मिश्र में तो विद्यार्थियों की ही बदौलत राष्ट्रीय आन्दोलन चल सके हैं। हिन्दुस्तान में भी वे कुछ कम नहीं कर सकते।

प्रिंसिपल साहब इस बात पर ज़ोर दे सकते थे कि विद्यार्थियों का अहिंसा के नियमों का पालन करना तथा हुल्लड़बाज़ों से शासित होने के बदले उन्हीं को क़ाबू में रखना ज़रूरी है।

अहिंसा किसे कहें ?

"अहिंसा की चर्चा शुरू हुई नहीं कि कितने लोग बाघ, भेड़िया, साँप, बिच्छू, मच्छर, खटमल, जूं, कुत्ता आदि को मारने न मारने, अथवा आलू बैंगन आदि को खाने न खाने की ही बात छेड़ते हैं।"

"नहीं तो फ़ौज रखी जा सकती है कि नहीं, सरकार के विरुद्ध सशस्त्र बलवा किया जा सकता है या नहीं,—आदि शास्त्रार्थ में उतरते हैं। यह तो कोई विचारता ही नहीं, सोचता ही नहीं कि शिक्षा में अहिंसा के कारण कैसी दृष्टि पैदा करनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में कुछ विस्तारपूर्वक कहिए।"

यह प्रश्न नया नहीं है। मैंने इसकी चर्चा 'नवजीवन' में इस रूप में नहीं, तो दूसरे ही रूप में अनेकों बार की है। किन्तु मैं देखता हूँ कि अब तक यह सवाल हल नहीं हुआ है। इसे हल करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। उसके हल में यत्किञ्चित हिस्सा दे सकूं, तो उतने से ही मैं अपने को कृतार्थ मानूँगा।

प्रश्न का पहला भाग हमारी संकुचित दृष्टि का सूचक है। जान पड़ता है कि इस फेर में पड़कर कि मनुष्येतर प्राणियों को मारना चाहिए या नहीं, हम अपने सामने पड़े हुए रोज के धर्म को भूल जाते हुए से लगते हैं। सर्पादि को मारने के प्रसंग सबको नहीं पड़ते हैं।

उन्हें न मारने योग्य दया या हिम्मत हमने नहीं पैदा की है। अपने में रहने वाले क्रोधादि सर्पों को हमने दया से, प्रेम से नहीं जीता है, मगर तोभी हम सर्पादि की हिंसा की बात छेड़कर उभयभ्रष्ट होते हैं। क्रोधादि को तो जीतते नहीं, और सर्पादि को न मारने की शक्ति से वञ्चित रहकर आत्मवञ्चना करते हैं। अहिंसा-धर्म का पालन करने की इच्छा रखने वालों को साँप आदि को भूल जाने की ज़रूरत है। उन्हें मारने से हाल में न छूट सकें तो इसका दुख न मानते हुए, सार्वभौम प्रेम पैदा करने की पहली सीढ़ी के रूप में मनुष्यों के क्रोध द्वेषादि को सहन कर उन्हें जीतने का प्रयत्न करें।

आलू और बैंगन जिसे न खाने हों, वह न खाय। मगर यह बात कहते हुए भी हम लज्जित होवें कि उसे न खाने में महापुण्य है या उसमें अहिंसा का पालन है। अहिंसा खाद्याखाद्य के विषय से परे है। संयम की आवश्यकता सदा है। खाद्य पदार्थों में जितना त्याग करना हो, उतना सभी कोई करें। वह त्याग भला है, आवश्यक है। मगर उसमें अहिंसा तो नाम मात्र की ही है। पर-पीड़ा देखकर दया से पीड़ित होने वाला, राग-द्वेषादि से दूर, नित्य कन्द-मूलादि खाने वाला आदमी अहिंसा की मूर्तिरूप और वन्दनीय है। पर पीड़ा के सम्बन्ध में उदासीन, स्वार्थ का वशवर्ती, दूसरों को पीड़ा देने वाला, राग-द्वेषादि से भरा हुआ, कन्द-मूलादि का हमेशा के लिये त्याग करने वाला मनुष्य तुच्छ प्राणी है, अहिंसादेवी उससे भागती ही फिरती है।

राष्ट्र में फ़ौज का स्थान हो सकता है या नहीं, सरकार के विरुद्ध शरीर-बल लगाया जा सकता है या नहीं—ये अवश्य महाप्रश्न हैं, और किसी दिन हमें इनको हल करना ही होगा। कहा जा सकता है कि महासभा ने अपने काम के लिये उसके एक अङ्ग को हल किया है, तो भी यह प्रश्न जन-साधारण के लिये आवश्यक नहीं है। इसलिये शिक्षा

के प्रेमी और विद्यार्थी के लिये अहिंसा की जो दृष्टि है, वह मेरी राय में ऊपर के दोनों प्रश्नों से भिन्न है अथवा परे है। शिक्षा में जो दृष्टि पैदा करनी है, वह परस्पर के नित्य सम्बन्ध की है। जहाँ वातावरण अहिंसा रूपी प्राणवायु के जरिये स्वच्छ और सुगन्धित हो चुका है, वहाँ पर विद्यार्थी और विद्यार्थिनियाँ सगे भाई बहिन के समान विचरती होंगी। वहाँ विद्यार्थियों और अध्यापकों के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध होगा, एक दूसरे के प्रति आदर होगा। ऐसी स्वच्छ वायु ही अहिंसा का नित्य, सतत पदार्थ पाठ है। ऐसे अहिंसामय वातावरण में पले हुए विद्यार्थी निरन्तर सबके प्रति उदार होंगे; वे सहज ही समाज-सेवा के लिये लायक होंगे। उनके लिये सामाजिक बुराइयों, दोषों का अलग प्रश्न नहीं होगा। अहिंसारूपी अग्नि में वह भस्म हो गया होगा, अहिंसा के वातावरण में पला हुआ विद्यार्थी क्या बाल-विवाह करेगा? अथवा कन्या के माँ-बाप को दण्ड देगा? अथवा विवाह करने के बाद अपनी पत्नी को दासी गिनेगा? अथवा उसे अपने विषय का भाजन मानेगा, और अपने को अहिंसक मनवाता फिरेगा? अथवा ऐसे वातावरण में शिक्षित युवक सहधर्मी या परधर्मी के साथ लड़ाई लड़ेगा?

अहिंसा प्रचण्ड शस्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है। वह भीरु से दूर-दूर भागती है। वह वीर पुरुष की शोभा है, उसका सर्वस्व है। वह शुष्क, नीरस, जड़ पदार्थ नहीं है। यह चेतनमय है, यह आत्मा का विशेष गुण है। इसीलिये इसका वर्णन परम धर्म के रूप में किया गया है, इसलिये शिक्षा में अहिंसा की दृष्टि है, और शिक्षण के प्रत्येक अङ्ग में नित्य, कृशा, लगता हुआ, उछलता, उभराता, शुद्धतम प्रेम। इस प्रेम के सामने वैर-भाव टिक ही नहीं सकता। अहिंसारूपी प्रेम सूर्य है, वैर-भाव घोर अन्धकार है। जो सूर्य टोकरे के नीचे छिपाया जा सके तो शिक्षा में रही हुई अहिंसादृष्टि भी छिपाई जा सकती है। ऐसी अहिंसा

अगर विद्यापीठ में प्रगट होगी, तो फिर वहाँ अहिंसा की परिभाषा किसी के लिए पूछनी आवश्यक ही नहीं होगी ।

यह क्या अहिंसा नहीं है ?

अन्नामलाई यूनीवर्सिटी के एक शिक्षक का पत्र मुझे मिला है, जिसमें वह लिखते हैं:—

"गत नवम्बर की बात है, पांच या छः विद्यार्थियों के एक समूह ने संगठित रूप से यूनीवर्सिटी यूनियन के सेक्रेटरी—अपने ही साथी—एक विद्यार्थी पर हमला किया है। यूनीवर्सिटी के वाइस चांसलर श्री श्रीनिवास शास्त्री ने इस पर सख्त ऐतराज किया, और उस समूह के नेता को यूनीवर्सिटी से निकाल दिया तथा बाक़ी को यूनीवर्सिटी के इस तालीमी साल के अन्त तक पढ़ाई में शामिल न करने की सज़ा दी।

सज़ा पाने वाले इन विद्यार्थियों से सहानुभूति रखने वाले इनके कुछ मित्रों ने इस पर क्लासों से गैरहाज़िर रह कर हड़ताल करना चाहा। दूसरे दिन उन्होंने अन्य विद्यार्थियों से सलाह की, और उन्हें भी इसके विरोध-स्वरूप हड़ताल करने के लिए समझाया बुझाया। लेकिन इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली, क्योंकि विद्यार्थियों के बहुमत को लगा कि छः विद्यार्थियों को जो सज़ा दी गई है वह ठीक ही है, और इसलिए उन्होंने हड़तालियों का साथ देने या उनके प्रति किसी तरह की हमदर्दी ज़ाहिर करने से इन्कार कर दिया।

इसलिए दूसरे दिन कोई २० फ़ीसदी विद्यार्थी पढ़ने नहीं आये, बाक़ी ८० फ़ीसदी हस्बमामूल हाज़िर रहे। यहाँ यह बतला देना ठीक होगा कि इस यूनीवर्सिटी में कुल ८०० के करीब विद्यार्थी हैं।

अब वह निकाला हुआ विद्यार्थी होस्टल में आया और हड़ताल का संचालन करने लगा। हड़ताल को नाकामयाब होते देख

शाम के वक्त उसने दूसरे साधनों का सहारा लिया। जैसे उदाहरण के लिए होस्टल के चार मुख्य रास्तों पर लेट जाना, होस्टल के कुछ दरवाजों को बन्द कर देना, और कुछ छोटे लड़कों को खास कर निचले दर्जे के बच्चों को, जिनको कि अपनी बात मानने के लिए डराया, धमकाया जा सकता है, उनको कमरों में बन्द कर देना आदि। इससे तीसरे पहर कोई पचास-साठ व्यक्ति बाक़ी विद्यार्थियों को होस्टल के बाहर आने से रोकने में सफल हो गये।

अधिकारियों ने इस तरह दरवाजे बन्द देखकर 'फेनसिंग' को खोलना चाहा। जब यूनीवर्सिटी के नौकरों की मदद से वे फेनसिंग को हटाने लगे, तो हड़तालियों ने उससे बने हुए रास्तों पर पहुँच कर दूसरों को उधर से निकल कर कालेज जाने से रोका, अधिकारियों ने धरना देने वालों को पकड़ कर रोका, लेकिन वे कामयाब न हो सके। तब परिस्थिति को अपने काबू से बाहर पाकर उन्होंने इस सब गड़बड़ की जड़ उस निकाले हुए विद्यार्थी को होस्टल की हद से हटाने की पुलिस से प्रार्थना की। जिस पर पुलिस ने उसे वहाँ से हटा दिया। इस पर स्वभावतः कुछ और विद्यार्थी भी खीज उठे, और हड़तालियों के प्रति सहानुभूति दिखलाने लगे। अगले सबेरे हड़तालियों को होस्टल की सारी फेनसिंग हटाई हुई मिली। तब वे कॉलेज की हद में घुस गये, और पढ़ाई के कमरे में जाने वाले रास्तों पर लेट कर धरना देने लगे। तब श्री श्रीनिवास शास्त्री ने डेढ़ महीने की लम्बी छुट्टी करके २९ नवम्बर से १६ जनवरी तक के लिए यूनीवर्सिटी को बन्द कर दिया।

अखबारों को उन्होंने एक वक्तव्य देकर विद्यार्थियों से अपील की कि वे छुट्टी के बाद घर से शिष्ट और सुखद भावनाओं के साथ पढ़ने के लिए आयें।

लेकिन कॉलेज के फिर से खुलने पर इन विद्यार्थियों की हलचल और भी तेज़ होगई, क्योंकि छुट्टियों में इन्हें ························ से और सलाह मिल गई थी। मालूम पड़ता है कि वे राजा जी के पास भी गये थे, लेकिन उन्होंने हस्तक्षेप करने से इन्कार कर वाइस चांसलर का हुक्म मानने के लिए कहा। उन्होंने वाइस चांसलर की मार्फ़त हड़तालियों को दो तार भी दिये, जिनमें उनसे हड़ताल बन्द करके शान्ति के साथ पढ़ाई शुरू कर देने की प्रार्थना की।

अच्छे विद्यार्थियों के सामान्य बहुमत पर हालांकि इन तारों का अच्छा असर पड़ा, मगर हड़तालिये अपनी बात पर अड़े रहे। धरना देना अभी भी जारी है, यह तो लगभग मामूली हो गया है। इन हड़तालियों की तादाद ३५–४५ के करीब है। और लगभग ५० इनसे सहानुभूति रखने वाले ऐसे हैं, जो सामने आकर हड़ताल करने का साहस तो नहीं रखते, पर अन्दर ही अन्दर गड़बड़ मचाते रहते हैं।

ये रोज़ इकट्ठे होकर जाते हैं, और क्लासों के दरवाज़ों पर व पहली मंजिल की क्लासों पर जाने वाले ज़ीने पर लेट जाते और इस तरह विद्यार्थियों को क्लासों में जाने से रोकते हैं। लेकिन शिक्षक दूसरी ऐसी जगह जाकर पढ़ाई शुरू करदेते हैं कि जहाँ धरना देने वाले उनसे पहले नहीं पहुँच पाते। नतीजा यह होता है कि हर घन्टे पढ़ाई का स्थान यहाँ से वहाँ बदलना पड़ता है, और कभी-कभी तो खुली जगह में पढ़ाना पड़ता है, जहाँ कि धरना देने वाले लेट नहीं सकते। ऐसे अवसरों पर ये शोर गुल मचाकर पढ़ाई में विघ्न डालते हैं, और कभी-कभी अपने शिक्षकों का व्याख्यान सुनते हुए विद्यार्थियों को परेशान कर डालते हैं।

कल एक नई बात हुई। हड़तालिये क्लासों के अन्दर घुस आये और लेट कर चिल्लाने लगे। और कुछ हड़तालियों ने तो, मैंने सुना

शिक्षक के आने से पहले ही बोर्डों पर लिखना भी शुरू कर दिया था। कमज़ोर शिक्षक अगर कहीं मिल जाते हैं, तो इनमें से कुछ हड़तालिये उन्हें भी डराने फुसलाने की कोशिश करते हैं। सच तो यह है कि वाइस चांसलर को भी यह धमकी दी थी कि अगर उन्होंने हमारी मांगें मंजूर नहीं कीं, तो "हिंसा और रक्तपात" का सहारा लिया जायगा।

दूसरी महत्वपूर्ण बात जो मुझे आपको कहनी चाहिए, वह यह है कि हड़तालियों को नगर से कुछ बाहरी आदमी मिल जाते हैं, जो यूनिवर्सिटी के अन्दर घुसने के लिए गुण्डों को भाड़े पर लाते हैं। असलियत तो यह है कि मैंने बहुत से ऐसे गुन्डों और दूसरे आदमियों को, जो कि विद्यार्थी नहीं हैं बरामदे के अन्दर और दूसरी क्लासों के कमरों के पास भी घूमते हुए देखा है। इसके अलावा विद्यार्थी वाइस चांसलर के बारे में अपशब्दों का भी व्यवहार करते हैं।

अब जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह यह है— हम सब याने कई शिक्षक और विद्यार्थियों की भी एक बड़ी तादाद यह महसूस कर रहे हैं कि ये प्रवृत्तियाँ सत्यपूर्ण और अहिंसात्मक नहीं है, और इसलिए सत्याग्रह की भावना के विरुद्ध हैं।

मुझे विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि कुछ हड़तालिये विद्यार्थी इसे अहिंसा ही कहते हैं। उनका कहना है कि अगर महात्माजी यह घोषणा करदें कि यह अहिंसा नहीं है तो हम इन प्रवृत्तियों को बन्द कर देंगे।"

यह पत्र १७ फरवरी का है, और काका कालेलकर को लिखा गया है, जिन्हें कि वह शिक्षक अच्छी तरह जानते हैं। इसके जिस अंश को मैंने नहीं छापा, उसमें इस बारे में काका साहब की राय पूछी गई है कि विद्यार्थियों के इस आचरण को क्या अहिंसामय कहा जा सकता है

और भारत के कितने ही विद्यार्थियों में अवज्ञा की जो भावना आगई है, इस पर अफसोस ज़ाहिर किया गया है ।

पत्र में उन लोगों के नाम भी दिये गये हैं, जो हड़तालियों को अपनी बात पर अड़े रहने के लिये उत्तेजन दे रहे हैं । हड़ताल के बारे में मेरी राय प्रकाशित होने पर किसी ने, जो स्पष्टतया कोई विद्यार्थी ही मालूम पड़ता है, मुझे एक गुस्से से भरा हुआ तार भेजा है कि हड़तालियों का व्यवहारपूर्ण अहिंसात्मक है । लेकिन ऊपर जो विवरण मैंने उद्धृत किया है, वह अगर सच है तो मुझे यह कहने में कोई पसोपेश नहीं है कि विद्यार्थियों का व्यवहार सचमुच हिंसात्मक है । अगर कोई मेरे घर का रास्ता रोक दे, तो निश्चय ही उसकी हिंसा वैसी ही कारगर होगी, जैसे दरवाज़े के बल-प्रयोग द्वारा मुझे धक्का देने में होती ।

विद्यार्थियों को अगर अपने शिक्षकों के ख़िलाफ़ सचमुच कोई शिकायत है, तो उन्हें हड़ताल ही नहीं, बल्कि अपने स्कूल या कॉलेज पर धरना देने का भी हक़ है, लेकिन इसी हद तक कि पढ़ने के लिये जाने वालों से विनम्रता के साथ न जाने की प्रार्थना करें । बोलकर या पर्चे बाँटकर वे ऐसा कर सकते हैं । लेकिन उन्हें रास्ता नहीं रोकना चाहिए, न कोई उन पर अनुचित दबाव ही डालना चाहिए, जो कि हड़ताल नहीं करना चाहते ।

और हड़ताल भला विद्यार्थियों ने की किसके ख़िलाफ़ ? श्री श्रीनिवास शास्त्री भारत के एक सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हैं । शिक्षक के रूप में उनकी तभी से ख्याति रही है, जब कि इनमें से बहुतेरे विद्यार्थी या तो पैदा ही नहीं हुए थे या अपनी किशोरावस्था में ही थे । उनकी महान् विद्वत्ता और उनके चरित्र की श्रेष्ठता दोनों ही ऐसी चीज़ें हैं कि जिनके कारण संसार की कोई भी यूनीवर्सिटी उन्हें अपना वाइस चांसलर बनाने में गौरव ही अनुभव करेगी ।

काका साहब को पत्र लिखने वाले ने अगर अन्नामलाई यूनीवर्सिटी की घटनाओं का सही विवरण दिया है, तो मुझे लगता है कि शास्त्री जी ने जिस तरह परिस्थिति को सँभाला, वह बिलकुल ठीक है। मेरी राय में विद्यार्थी अपने आचरण से खुद अपनी ही हानि कर रहे हैं। मैं तो उस मत का मानने वाला हूँ, जो शिक्षकों के प्रति श्रद्धा रखने में विश्वास करता है। यह तो मैं समझ सकता हूँ कि जिस स्कूल के शिक्षक के प्रति मेरे मन में सम्मान का भाव न हो, उसमें मैं न जाऊँ, लेकिन अपने शिक्षकों की बेइज्जती या उनकी अवज्ञा को मैं नहीं समझ सकता। ऐसा आचरण तो असज्जनोचित है, और असज्जनता सभी हिंसा है।

विद्यार्थी और गीता

उस दिन एक पादरी मित्र ने बातों-बातों मुझसे पूछा —"अगर हिन्दुस्तान सचमुच ही आध्यात्मिक देश है, तो फिर यहाँ पर बहुत ही थोड़े विद्यार्थी क्यों अपने धर्म को या गीता को ही जानते हैं ?" वे खुद शिक्षक हैं। इसके समर्थन में उन्होंने कहा, मैं खास कर हर विद्यार्थी से पूछता हूँ कि तुम्हें अपने धर्म का या भगवद्गीता का कुछ ज्ञान है ? उनमें से बहुत अधिक तो इसमें कोरे ही मिलते हैं।

मैं यहाँ इस निर्णय पर चर्चा नहीं करना चाहता कि चूँकि कुछ विद्यार्थियों को अपने धर्म का कुछ ज्ञान नहीं है, इसलिये हिन्दुस्तान आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत देश नहीं है। मैं तो इतना ही भर कहूँगा कि विद्यार्थियों के धर्मशास्त्रों के अज्ञान से यह निष्कर्ष निकलना ज़रूरी नहीं है कि उस समाज में जिससे वे विद्यार्थी आये हैं, धार्मिक-जीवन या आध्यात्मिकता है ही नहीं। मगर इसमें कोई शक नहीं कि सरकारी स्कूल, कालेजों के निकले हुए अधिकतर लड़के धार्मिक शिक्षण से कोरे ही होते हैं। पादरी साहब का इशारा मैसूर के विद्यार्थियों की तरफ़ था।

मुझे यह जानकर दुःख हुआ कि मैसूर के विद्यार्थियों को राज्य के स्कूलों में कोई धार्मिक शिक्षण नहीं दिया जाता। मैं जानता हूँ कि इस विचार वाले लोग भी हैं कि सार्वजनिक स्कूलों में सिर्फ अपने-अपने विषयों की ही शिक्षा देनी चाहिए। मैं यह भी जानता हूँ कि हिन्दुस्तान जैसे देश में, जहाँ पर संसार के अधिकतर धर्मों के अनुयायी मिलते हैं, और जहाँ एक ही धर्म के इतने भेद-उपभेद हैं, धार्मिक शिक्षण का प्रबन्ध करना कठिन होगा। मगर अगर हिन्दुस्तान को आध्यात्मिकता का दिवाला नहीं निकालना है, तो उसे धार्मिक शिक्षा को भी वैषयिक शिक्षण के बराबर ही महत्व देना पड़ेगा। यह सच है कि धार्मिक पुस्तकों के ज्ञान की तुलना धर्म से नहीं की जा सकती, मगर जब हमें धर्म नहीं मिल सकता, तो हमें अपने लड़कों को उससे उतर कर दूसरी ही वस्तु देने में सन्तोष मानना ही पड़ेगा, और फिर स्कूलों में ऐसी शिक्षा दी जाय या नहीं? मगर सयाने लड़कों को तो जैसे और विषयों में, वैसे धार्मिक विषय में भी स्वावलम्बन की आदत डालनी ही पड़ेगी। जैसे कि आज उनकी वाद-विवाद या चर्चा-समितियाँ हैं, वे आप ही अपने धार्मिक वर्ग खोलें।

शिमोगा में कौंसिजियट हाई स्कूल के लड़कों से भाषण करते समय पूछने पर मुझे पता चला कि कोई १०० हिन्दू लड़कों में मुश्किल से आठ ने भगवद्गीता पढ़ी थी। यह पूछने पर कि उनमें से भी कोई गीता का अर्थ समझता है कि नहीं, एक भी हाथ नहीं उठा। ४, ५ मुसलमान विद्यार्थियों में से एक-एक ने कुरान पढ़ा था, मगर अर्थ समझने का दावा तो सिर्फ एक ही कर सका। मेरी समझ में तो गीता बहुत ही सरल ग्रन्थ है। ज़रूर ही इसमें कुछ मौलिक प्रश्न आते हैं, जिन्हें हल करना बेशक मुश्किल है; मगर गीता की साधारण शिक्षा को न समझना असम्भव है। इसे सभी सम्प्रदाय प्रामाणिक ग्रन्थ मानते

हैं। इसमें किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता नहीं है। थोड़े में यह सम्पूर्ण संयुक्त नीतिशास्त्र है, यों यह दार्शनिक और भक्ति-विषयक ग्रन्थ दोनों ही है। इससे सभी कोई लाभ उठा सकता है। भाषा तो अत्यन्त ही सरल है, मगर तो भी मैं समझता हूँ कि हर प्रान्तीय भाषा में इसका एक प्रामाणिक अनुवाद होना चाहिये, और यह अनुवाद ऐसा हो, जिससे गीता की शिक्षा सर्वसाधारण की समझ में आ सके। मेरी यह सलाह गीता के बदले में दूसरी किताब रखने की नहीं है. क्योंकि मैं अपनी यह राय दुहराता हूँ कि हर हिन्दू लड़के और लड़की को संस्कृत जानना चाहिये। मगर अभी तो कई ज़मानों तक करोड़ों आदमी संस्कृत से कोरे ही रहेंगे। केवल संस्कृत न जानने के कारण गीता की शिक्षा से वञ्चित रखना तो आत्मघात करना होगा।

हिंदू विद्यार्थी और गीता

(मद्रास के विद्यार्थियों के आगे दिये गांधी जी के भाषण का एक अंश)

'तुम अपने मान-पत्र में कहते हो कि मेरे जैसा तुम रोज ही बाईबिल पढ़ते हो। मैं यह नहीं कह सकता कि मैं रोज बाइबिल पढ़ता हूँ, मगर यह कह सकता हूँ कि मैंने नम्रता और भक्ति से बाइबिल पढ़ी है। और अगर तुम भी उसी भाव से बाइबिल पढ़ते हो, तो यह अच्छा ही है। मगर मेरा अनुमान है कि तुम में से अधिकांश लड़के हिन्दू हो, क्या ही अच्छा होता अगर तुम कह सकते कि तुम में से हिंदू लड़के रोज ही गीता का पाठ आध्यात्मिकता पाने के लिए करते हैं। क्योंकि मेरा विश्वास है कि संसार के सभी धर्म कमोबेश सच्चे हैं। मैं कमोबेश इस लिए कहता हूँ कि जो कुछ आदमी छूते हैं, उनकी अपूर्णता से वह भी अपूर्ण हो जाता है। पूर्णता तो केवल ईश्वर का ही गुण है, और

इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, तर्जुमा नहीं किया जा सकता। मेरा विश्वास है कि हर एक आदमी के लिए ईश्वर जैसा ही पूर्ण बन जाना संभव है। हम सब के लिए पूर्णता की उच्चाभिलाषा रखनी जरूरी है, मगर जब उस धन्य स्थिति पर हम पहुँच जाते हैं। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, वह समझायी नहीं जा सकती, इसलिए पूरी नम्रता से मैं मानता हूँ कि वेद, कुरान और बाइबिल ईश्वर के अपूर्ण शब्द हैं, और हम जैसे अपूर्ण प्राणी हैं, अनेक विषयों से इधर उधर डोलते रहते हैं। हमारे लिए ईश्वर का यह शब्द पूरा-पूरा समझना भी असंभव है, और मैं इसीलिए हिन्दू लड़कों से कहता हूँ कि तुम जिस परम्परा में पले हो उसे उखाड़ मत फेंको जैसा कि मैं मुसलमान या इसाई बालकों से कहूँगा कि तुम अपनी परम्परा से सम्बन्ध न तोड़ डालो। इसलिये जब कि मैं तुम्हारे कुरान या बाइबिल पढ़ने का स्वागत करूँगा, मैं तुम सब हिन्दू लड़कों पर गीता पढ़ने के लिये ज़ोर डालूँगा, अगर मैं ज़ोर डाल सकता हूँ तो। मेरा विश्वास है कि लड़कों में हम जो अपवित्रता पाते हैं, जीवन की आवश्यक बातों के बारे में जो लापरवाही देखते हैं, जीवन के सबसे बड़े और परमावश्यक प्रश्नों पर वे जिस ढिलाई से विचार करते हैं, उसका कारण है उनकी वह परम्परा नष्ट हो जानी, जिससे अब तक उन्हें पोषण मिलता आया था।

मगर कोई ग़लतफ़हमी न होने पावे। मैं यह नहीं मानता कि केवल पुरानी होने से ही सभी पुरानी बातें अच्छी हैं। प्राचीन परम्परा के सामने ईश्वर की दी हुई तर्कबुद्धि का त्याग करने को मैं नहीं कहता। चाहे कोई परम्परा हो, मगर नीति के विरुद्ध होने पर वह त्याज्य है। अस्पृश्यता शायद पुरानी परम्परा मानी जावे। बाल-वैधव्य, बाल-विवाह और दूसरे कई बीभत्स विश्वास तथा वहम शायद पुरानी परम्परा के माने जायँ। अगर मुझमें ताक़त होती, तो मैं उन्हें भी बहाता, इसलिये

शायद तुम अब समझ सकोगे कि मैं जब पुरानी परम्परा की इज्जत करने को कहता हूँ, तो मेरा क्या मतलब है? और चूँकि मैं उसी परमात्मा को भगवद्गीता में देखता हूँ, जिसे बाइबिल और कुरान में। मैं हिन्दू बालकों को गीता पढ़ने को कहता हूँ, क्योंकि गीता के साथ उनका मेल और किसी दूसरी पुस्तक से कहीं अधिक होगा।

गीता पर उपदेश

आनन्द ध्रुवजी ने आज्ञा दी है कि गीता माता के बारे में कुछ कहना होगा। उनके और मालवीय जी के सामने जो गीता को घोंटकर पी गये हैं, मैं क्या कह सकता हूँ। परन्तु मेरे जैसे आदमी पर गीतामाता का क्या प्रभाव पड़ा है यह बतलाने के लिये मैं कुछ कहता हूँ। ईसाई के लिये बाइबिल है, मुसलमान के लिये कुरान है और हिन्दुओं के लिये किसको कहें, स्मृति को कहें या पुराण को कहें? २२-२३ साल की उम्र में मुझे ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हुई। मालूम हुआ कि वेदों का अभ्यास करने के लिये पन्द्रह वर्ष चाहिए, पर इसके लिये मैं तैयार नहीं था। मुझे मालूम हुआ, मैंने कहीं पढ़ा था कि गीता सब शास्त्रों का दोहन है, कामधेनु है। मुझे बतलाया गया कि उपनिषद् आदि का निचोड़ ५०० श्लोकों में आ गया है। थोड़ी संस्कृत की भी शिक्षा थी, मैंने सोचा कि यह तो सरल उपाय है। मैंने अध्ययन किया और मेरे लिये वह बाइबिल, कुरान नहीं रही, माता बन गयी। प्राकृतिक माता नहीं, ऐसी माता जो मेरे चले जाने पर भी रहेगी, उसके करोड़ों लड़के लड़कियाँ बिना आपस के द्वेष के उसका दुग्ध पान कर सकते हैं। पीड़ा के समय वे माता की गोद में बैठ सकते हैं और पूछ सकते हैं कि यह संकट आ गया है, मैं क्या करूँ और माता ज्ञान बता देगी। अस्पृश्यता के सम्बन्ध में भी मेरे ऊपर कितना हमला होता है, कितने लोग विपरीत

हैं। मैं माता से पूछता हूँ, क्या करूँ? वेद आदि तो पढ़ नहीं सकता। वह कहती है, नवाँ अध्याय पढ़ ले। माता कहती है, मैं तो उन्हीं के लिये पैदा हुई हूँ, मैं तो पतितों के लिये हूँ। इस तरह आश्वासन वे ही पा सकते हैं, जो सच्चे मातृ भक्त हैं। जो सब उसी में से पान करना चाहते हैं वह उनके लिये कामधेनु है। कोई-कोई कहते हैं कि गीतामाता बहुत गूढ़ ग्रन्थ है। लोकमान्य तिलक के लिये वह गूढ़ ग्रन्थ भले ही हो, पर मेरे लिये तो इतना ही काफ़ी है। पहला, दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लीजिये, बाकी में तो इसमें की बातों का दुहराना मात्र है। इसमें भी थोड़े से श्लोकों में सभी बातों का समावेश है और सबसे सरल गीता-माता में तीन जगह कहा है कि जो सब चीज़ों को छोड़कर मेरी गोद में बैठ जाते हैं, उन्हें निराशा का स्थान नहीं, आनन्द ही आनन्द है। गीता-माता कहती है कि पुरुषार्थ करो, फल मुझे सौंप दो। ऐसी मोटी-मोटी बातें मैंने गीतामाता से पाईं। यह भक्ति से पाना असम्भव है। मैं रोज़-रोज़ उससे कुछ न कुछ प्राप्त करता हूँ, इसलिये मुझे निराशा कभी नहीं होती। दुनिया कहती है कि अस्पृश्यता आन्दोलन ठीक नहीं, गीतामाता कह देती है कि ठीक है। आप लोग प्रतिदिन सुबह गीता का पाठ करें। यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। १८ अध्याय कण्ठ करना बड़े परिश्रम की बात नहीं। जङ्गल में या कारागार में चले गये, तो कण्ठ करने से गीता साथ जायगी। प्राणान्त के समय जब आँखें काम नहीं देतीं, केवल थोड़ी बुद्धि रह जाती है, तो गीता से ही ब्रह्म-निर्वाण मिल जा सकता है। आपने जो मानपत्र और रुपया दिया है और आप लोग हरिजनों के लिये जो कर रहे हैं, उसके लिये धन्यवाद देता हूँ; पर इतने से मुझे सन्तोष नहीं। मैं सोचता हूँ कि यहाँ इतने अध्यापक और लड़के-लड़कियाँ हैं, फिर इतना कम काम क्यों हो रहा है?

प्रार्थना किसे कहते हैं ?

एक डाक्टरी डिग्री प्राप्त किये हुए महाशय प्रश्न करते हैं:—

"प्रार्थना का सबसे उत्तम प्रकार क्या हो सकता है ? इसमें कितना समय लगाना चाहिए ? मेरी राय में तो न्याय करना ही उत्तम प्रकार की प्रार्थना है और मनुष्य सबको न्याय करने के लिये सच्चे दिल से तैयार होता है, उसे दूसरी प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कुछ लोग तो संध्या करने में बहुत सा समय लगा देते हैं, परन्तु सैकड़े पीछे ९९ मनुष्य तो उस समय जो कुछ बोलते हैं, उसका अर्थ भी नहीं समझते हैं। मेरी राय में तो अपनी मातृभाषा में ही प्रार्थना करनी चाहिए, उसका ही आत्मा पर अच्छा असर पड़ सकता है। मैं तो यह भी कहता हूँ कि सच्ची प्रार्थना यदि एक मिनट के लिये भी की गई हो, तो वह भी काफ़ी होगी। ईश्वर को पाप न करने का अभि-वचन देना भी काफ़ी है।"

प्रार्थना के माने हैं धर्म-भावना और आदरपूर्वक ईश्वर से कुछ माँगना। परन्तु किसी भक्ति भाव-युक्त कार्य को व्यक्त करने के लिये भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेखक के मन में जो बात है, उसके लिये भक्ति शब्द का प्रयोग करना ही अधिक अच्छा है। परन्तु उसकी व्याख्या का विचार छोड़कर हम इसी का ही विचार करें कि करोड़ों हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी और दूसरे लोग रोज़ाना अपने स्रष्टा की भक्ति करने के लिये निश्चित किये हुए समय में क्या करते हैं ? मुझे तो यह मालूम होता है कि वह तो स्रष्टा के साथ एक होने की हृदय की अभिलाषा को प्रगट करना है और उसके आशीर्वाद के लिये याचना करना है। इसमें मन की वृत्ति और भावों को ही महत्व होता है, शब्दों को नहीं और अक्सर पुराने ज़माने से जो शब्द-रचना चली आती है, उसका भी असर होता है, जो मातृभाषा में उसका अनुवाद करने पर

सर्वथा नष्ट हो जाता है। गुजराती में गायत्री का अनुवाद कर उसका पाठ करने पर उसका वह असर न होगा, जो कि असल गायत्री से होता है। राम शब्द के उच्चारण से लाखों-करोड़ों हिन्दुओं पर फौरन असर होगा और 'गॉड' शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा। चिरकाल के प्रयोग से और उनके प्रयोग के साथ संयोजित पवित्रता से शब्दों को शक्ति प्राप्त होती है, इसलिये सबसे अधिक प्रचलित मंत्र और श्लोकों की संस्कृत भाषा रखने के लिये बहुत सी दलीलें की जा सकती हैं। परन्तु उनका अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यह बात तो बिना कहे ही मान लेनी चाहिए। ऐसी भक्तियुक्त क्रियाएँ कब करनी चाहिएँ, इसका कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता। इसका आधार जुदी-जुदी व्यक्तियों के स्वभाव पर ही होता है। मनुष्य के जीवन में ये क्षण बहुत ही क़ीमती होते हैं। ये क्रियाएँ हमें नम्र और शान्त बनाने के लिये होती हैं और इनसे हम इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता है और हम तो "उस प्रजापति के हाथ में मिट्टी के पिण्ड हैं।" ये पल ऐसी हैं कि इनमें मनुष्य अपने भूतकाल का निरीक्षण करता है। अपनी दुर्बलता को स्वीकार करता है और क्षमा-याचना करते हुए अच्छा बनने की और अच्छा कार्य करने की शक्ति के लिये प्रार्थना करता है। कुछ लोगों को इसके लिये एक मिनट भी बस होता है, तो कुछ लोगों को चौबीस घण्टे भी काफ़ी नहीं हो सकते हैं। उन लोगों के लिये जो ईश्वर के अस्तित्व को अपने में अनुभव करते हैं, केवल मिहनत या मज़दूरी करना भी प्रार्थना हो सकती है। उनका जीवन ही सतत प्रार्थना और भक्ति के कार्यों से बना होता है, परन्तु वे लोग जो केवल पाप-कर्म ही करते हैं, प्रार्थना में जितना भी समय लगावेंगे, उतना ही कम होगा, यदि उनमें धैर्य्य और श्रद्धा होगी और पवित्र बनने की इच्छा होगी,

तो वे तब तक प्रार्थना करेंगे, जब तक कि उन्हें अपने में ईश्वर की पवित्र उपस्थिति का निर्णयात्मक अनुभव न होगा। हम साधारण वर्ग के मनुष्यों के लिये तो इन दो सिरों के मार्गों के मध्य का एक और मार्ग भी होना चाहिये। हम ऐसे उन्नत नहीं हो गये हैं कि यह कह सकें कि हमारे सब कर्म ईश्वरार्पण ही हैं और शायद इतने गिरे हुए भी नहीं हैं कि केवल स्वार्थी जीवन ही बिताते हों। इसलिये सभी धर्मों ने सामान्य भक्ति-भाव प्रदर्शित करने के लिये अलग समय मुक़र्रर किया है। दुर्भाग्य से इन दिनों यह प्रार्थनाएँ जहाँ दाम्भिक नहीं होती हैं, वहाँ यान्त्रिक और औपचारिक हो गई हैं, इसलिये यह आवश्यक है कि इन प्रार्थनाओं के समय वृत्ति भी शुद्ध और सच्ची हो।

निश्चयात्म वैयक्तिक प्रार्थना जो ईश्वर से कुछ माँगने के लिये की गई हो, वह तो अपनी ही भाषा में होनी चाहिये। इस प्रार्थना से कि ईश्वर हमें हर एक जीव के प्रति न्यायपूर्वक व्यवहार करने की शक्ति दे और कोई बात बढ़कर नहीं हो सकती है।

"प्रार्थना में विश्वास नहीं"

किसी राष्ट्रीय संस्था के प्रधान के नाम एक विद्यार्थी ने एक पत्र लिखा है, उसने उनसे वहाँ की प्रार्थना में न शामिल होने के लिये क्षमा माँगी है। वह पत्र नीचे दिया जाता है:—

प्रार्थना पर मेरा विश्वास नहीं है। इसका कारण यह है कि मेरी धारणा यह है कि ईश्वर जैसी कोई वस्तु है ही नहीं कि जिसकी प्रार्थना हमको करनी चाहिये। मुझे कभी यह ज़रूरी मालूम नहीं होता कि मैं अपने लिये एक ईश्वर की कल्पना करूँ। अगर मैं उसके अस्तित्व को मानने के झंझट में न पड़ूँ, तथा शान्ति और साफ़दिली से अपना काम करता जाऊँ, तो मेरा बिगड़ता क्या है?

सामुदायिक प्रार्थना तो बिल्कुल ही व्यर्थ है। क्या इतने एक आदमी मामूली से मामूली चीज़ पर भी मानसिक एकाग्रता के साथ बैठ सकते हैं? यदि नहीं, तो छोटे-छोटे अबोध बच्चों से यह आशा कैसे रखी जाय कि वे अपने चञ्चल मन को हमारे महान् शास्त्रों के जटिल तत्व—मसलन् आत्मा परमात्मा और मनुष्य मात्र की एकात्मता इत्यादि वाक्यों के गूढ़ तत्व पर एकाग्रचित्त हों? इस महान् कार्य को अमुक नियत समय में तथा विशेष व्यक्ति की आज्ञा पाने पर ही करना पड़ता है। क्या उस कल्पित ईश्वर के प्रति प्रेम इस प्रकार की किसी यान्त्रिक क्रिया के द्वारा बालकों के दिलों में पैठ सकता है? हर तरह के स्वभाव वाले लोगों से यह आशा रखना कि वह कल्पित ईश्वर के प्रति यों ही प्रेम रखे—इसके बराबर नासमझी की बात और क्या हो सकती है? इसलिये प्रार्थना जबरन न करायी जानी चाहिये। प्रार्थना वे करें, जिनको उसमें रुचि हो और प्रार्थना में रुचि न रखने वाले उसे न करें। बिना दृढ़ विश्वास के कोई काम करना अनीतिमूलक एवं पतनकारी है।"

हम पहले इस अन्तिम विचार की समीक्षा करते हैं, क्या नियम-पालन की आवश्यकता को भली भांति समझने लगने के पहले उसमें बंधना अनीतिपूर्ण और पतनकारी है? स्कूल के पाठ्यक्रम की उपयोगिता को अच्छी तरह जाने बिना उस पाठ्यक्रम के अनुसार उसके अन्तर्गत विषयों का अध्ययन करना क्या अनीतिपूर्ण और पतनकारी है? अगर कोई लड़का अपनी मातृभाषा सीखना व्यर्थ मानने लग पड़े, तो क्या उसे मातृभाषा पढ़ने से मुक्त कर देना चाहिये? क्या यह कहना ज्यादा ठीक न होगा कि लड़कों को इन बातों में पड़ने की ज़रूरत नहीं कि मुझे फलाँ विषय पढ़ना चाहिये और फलाँ नियम पालन करना चाहिये? अगर इस बारे में उसके पास खुद की कोई पसन्दगी थी भी, तो जब वह किसी संस्था में प्रवेश होने के लिये गया, तब ही वह ख़तम हो

चुकी। अमुक संस्था में उसके भरती होने के अर्थ यह हैं कि वह उस संस्था के नियमों का पालन सहर्ष किया करेगा। वह चाहे तो उस संस्था को छोड़ भले ही दे, लेकिन जब तक वह उसमें है, तब तक यह बात उसके अख्तियार के बाहर है कि मुझे क्या पढ़ना चाहिये और कैसे? यह काम तो शिक्षकों का है कि वे उस विषय को जो कि विद्यार्थियों को शुरू में घृणा और अरुचि उत्पन्न करने वाला मालूम हो, उसे रुचिकर और सुगम बना दें।

यह कहना कि मैं ईश्वर को नहीं मानता, बड़ा आसान है, क्योंकि ईश्वर के बारे में चाहे जो कुछ कहा जाय, उसको ईश्वर बिना सज़ा दिये कहने देता है। वह तो हमारी कृतियों को देखता है। ईश्वर के बनाये हुए किसी भी क़ानून के खिलाफ़ काम करने से वह काम करने वाला सज़ा ज़रूर पाता है, लेकिन वह सज़ा, सज़ा के लिये नहीं होती; बल्कि उसे शुद्ध करने और उसे अवश्य ही सुधारने की सिफ़त रखती है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध हो नहीं सकता और न उसके सिद्ध होने की ज़रूरत ही है. ईश्वर तो है ही, अगर वह दीख नहीं पड़ता, तो हमारा दुर्भाग्य है। उसे अनुभव करने की शक्ति का अभाव एक रोग है और उसे हम किसी न किसी दिन दूर कर देंगे, ख्वाह हम चाहें या न चाहें।

लेकिन विद्यार्थी तर्क करने में न पड़ें। जिस संस्था में वे पढ़ते हैं अगर उस संस्था में सामुदायिक प्रार्थना करने का नियम है, तो नियम पालन के विचार से भी प्रार्थना में ज़रूर शरीक होना चाहिये। विद्यार्थी अपनी शङ्काएँ अपने शिक्षक के सामने रख सकता है। जो बात उसे नहीं जँचती, उस पर विश्वास करने की ज़रूरत उसे नहीं है। अगर उसके चित्त में गुरुओं के प्रति आदर है, तो वह गुरु के बताये हुए काम को उसकी उपयोगिता में दृढ़ विश्वास रखे बिना भी करेगा—भय के मारे या बेढंगेपन से नहीं, बल्कि इस निश्चय के साथ कि उसे करना

उसका कर्तव्य है और यह आशा रखे हुए कि जो आज उसकी समझ में नहीं आता, वह किसी न किसी दिन ज़रूर आ जायगा।

प्रार्थना करना याचना करना नहीं है, वह तो आत्मा की पुकार है। वह अपनी त्रुटियों को नित्य स्वीकार करना है। हम में से बड़े से बड़े को मृत्यु रोग, वृद्धावस्था, दुर्घटना इत्यादि के सामने अपनी तुच्छता का भान हर दम हुआ करता है। जब अपने मनसूबे क्षण भर में मिट्टी में मिलाये जा सकते हैं, या जब अचानक और पल भर में हमारी क्षुद्र हस्ती तक मिटाई जा सकती है, तब "हमारे मन्सूबों" का मूल्य ही क्या रहा? लेकिन अगर हम यह कह सकें कि "हम तो ईश्वर के निमित्त तथा उसी की रचना के अनुसार ही काम करते हैं, तब हम अपने को मेरु की भांति अचल मान सकते हैं, तब तो कुछ फसाद ही नहीं रह जाता। उस हालत में नाशवान कुछ भी नहीं है तथा दृश्य-जगत ही नाशवान मालूम होगा। तब लेकिन केवल मृत्यु और विनाश सब असत् मालूम होते हैं, क्योंकि मृत्यु या विनाश उस हालत में एक रूपान्तर मात्र है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक शिल्पी अपने एक चित्र को उससे उत्तम चित्र बनाने के हेतु नष्ट कर देता है और जिस प्रकार घड़ी साज़ अच्छी कमानी लगाने के अभिप्राय से रद्दी को फेंक देता है।

सामुदायिक प्रार्थना बड़ी बलवती वस्तु है। जो काम हम प्रायः अकेले नहीं करते, उसे हम सबके साथ करते हैं। लड़कों को निश्चय की आवश्यकता नहीं। अगर वे महज़ अनुशासन के पालनार्थ ही सच्चे दिल से प्रार्थना में सम्मिलित हों, तो उनको प्रफुल्लता का अनुभव होगा, लेकिन अनेक विद्यार्थी ऐसा अनुभव नहीं करते। वे तो प्रार्थना के समय उलटे शरारत किया करते हैं, लेकिन तिस पर भी अप्रकट रूप से होने वाला फल रुक नहीं सकता। वे क्या लड़के नहीं हैं, जो अपने आरम्भ-काल में प्रार्थना में महज ठट्ठा करने के लिये ही शरीक होते थे, लेकिन

जो कि बाद को सामुदायिक प्रार्थना की विशिष्टता में अटल विश्वास रखने वाले हो गये। यह बात सभी के अनुभव में आई होगी कि, जिनमें दृढ़ विश्वास नहीं होता, वे सामुदायिक प्रार्थना का सहारा लेते हैं। वे सब लोग जो कि गिर्जाघरों, मन्दिरों और मसजिदों में इकट्ठा होते हैं, न तो कोरे ठेकाबाज हैं और न पाखण्डी ही। वे ईमानदार लोग हैं, उनके लिए तो सामुदायिक प्रार्थना नित्य स्नान की भांति एक आवश्यक नित्य-कर्म है। प्रार्थना के स्थान महज़ वहम नहीं हैं जिनको जल्दी से जल्दी मिटा देना चाहिए। वे आघात सहते रहने पर भी अब तक मौजूद हैं और अनन्त काल तक बने रहेंगे।

शब्दों का अत्याचार

१० सितम्बर के "हिन्दी-नवजीवन" में प्रकाशित मेरे लेख, "प्रार्थना में विश्वास नहीं" पर एक पत्र लेखक लिखते हैं:—

"उपर्युक्त शीर्षक के अपने लेख में न तो उस लड़के के प्रति और न एक महान् विचारक के रूप में, न अपने ही प्रति आप न्याय करते हैं। यह सच है कि उसके पत्र के सभी शब्द बहुत मुनासिब नहीं हैं, किन्तु उसके विचारों की स्पष्टता के विषय में तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। 'लड़का' शब्द का जो अर्थ आज समझा जाता है, उसके अनुसार यह स्पष्ट मालूम होता है कि वह लड़का नहीं है। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य होगा कि वह २० वर्ष से कम उम्र का है। अगर वह कमसिन भी हो, तो भी उसका इतना मानसिक-विकास हो चुका है कि, उसे यह कह कर चुप नहीं कराया जा सकता कि—"बच्चों को बहस नहीं करनी चाहिए।" पत्र लेखक बुद्धिवादी हैं; और आप हैं श्रद्धावादी। ये दोनों भेद युग प्राचीन हैं और उनका झगड़ा भी उतना ही पुराना

है। एक की मनोवृत्ति है —'मुझे कायल कर दो और मैं विश्वास करने लगूंगा।" दूसरे की मनोवृत्ति है —"पहिले विश्वास करो, पीछे से आप ही कायल हो जाओगे।" पहिला अगर बुद्धि को प्रमाण मानता है, तो दूसरा श्रद्धालु पुरुषों को। मालूम होता है कि आपकी समझ में कम उम्र लोगों की नास्तिकता अल्पस्थायी होती है और जल्दी या देरी से, कभी न कभी विश्वास पैदा होता ही है। आप के समर्थन में स्वामी विवेकानन्द का प्रसिद्ध उदाहरण भी मिलता है। इसलिए आप लड़के को, उसी के लाभ के लिए—प्रार्थना का एक घूँट जबरन् पिलाना चाहते हैं, उसके लिए आप दो प्रकार के कारण बतलाते हैं। पहला—अपनी तुच्छता, अशक्तता और ईश्वर कहे जाने वाले उस महाप्राणी के बड़प्पन और भलमनसाहत को अपने आप स्वीकार करने के लिए प्रार्थना करना। यानी प्रार्थना एक स्वतंत्र कर्त्तव्य है, इसलिए। दूसरा—जिन्हें शान्ति या सन्तोष की ज़रूरत है, उन्हें शान्ति और सन्तोष देने में यह उपयोगी है इसलिए। पहले मैं दूसरे तर्क का ही खण्डन करूँगा। यहाँ प्रार्थना को कमज़ोर आदमियों के लिए सहारा के रूप में माना गया है। जीवन संग्राम की जाँच इतनी कड़ी है और मनुष्यों की बुद्धि का नाश कर देने की उनमें इतनी अधिक ताक़त है कि बहुत लोगों को प्रार्थना और विश्वास की ज़रूरत पड़ सकती है। उन्हें इसका अधिकार है; और वह उन्हें मुबारक हो। लेकिन प्रत्येक युग में ऐसे कुछ सच्चे बुद्धिवादी थे; और हमेशा हैं—उनकी संख्या बेशक बहुत कम रही है—जिन्हें प्रार्थना या विश्वास की ज़रूरत का कभी अनुभव नहीं हुआ। इसके अलावा ऐसे लोग भी तो हैं जो धर्म के प्रति लोहा न लेवें मगर, उससे उदासीन तो अवश्य हैं।

"चूंकि सब किसी को अन्त में प्रार्थना की सहायता की ज़रूरत नहीं पड़ती है; और जिन्हें इसकी ज़रूरत मालूम होती है, उन्हें इसे शुरू करने

का पूरा अधिकार है और सच पूछो तो ज़रूरत पड़ने पर वे करते भी हैं, इसलिए उपयोगिता की दृष्टि से तो प्रार्थना में बल-प्रयोग का समर्थन किया ही नहीं जा सकता। शारीरिक और मानसिक विकास के लिए अनिवार्य शारीरिक व्यायाम और शिक्षा आवश्यक हो सकते हैं, किन्तु नैतिक उन्नति के लिए प्रार्थना और ईश्वर में विश्वास वैसे ही आवश्यक नहीं हैं। संसार के कुछ सब से बड़े नास्तिक, सब से अधिक नीतिमान हुए हैं। मैं समझता हूँ कि इनके लिए आप, मनुष्य की अपनी नम्रता स्वीकार करने के रूप में, प्रार्थना की सिफ़ारिश करेंगे। यह आपका पहला ही तर्क है। इस नम्रता का नाम बहुत लिया जा चुका है। ज्ञान का सागर इतना बड़ा है कि बड़े से बड़े वैज्ञानिकों को भी अपना छोटा-पन स्वीकार करना पड़ा है। किन्तु सत्य के शोध में उन्होंने बहुत शौर्य दिखलाया है। प्रकृति के ऊपर जैसी बड़ी-बड़ी विजयें उन्होंने पायीं, वैसा ही, बड़ा विश्वास भी उनको अपनी शक्ति में था। अगर ऐसी बात न होती, तो आज तक हम या तो खाली उङ्गलियों से जमीन में कन्द-मूल नोंचते होते, या सच पूछो तो शायद दुनियाँ से हमारा अस्तित्व ही गायब हो गया रहता।"

"हिमयुग में जब शीत से लोग मर रहे थे, जिसने पहिले पहल आग का पता लगाया होगा, उससे आप की श्रेणी के लोगों ने व्यङ्ग से कहा होगा कि—'तुम्हारी योजनाओं से क्या लाभ है? ईश्वर की शक्ति और कोप के सामने उनकी क्या हकीकत है?" उसके बाद से नम्र पुरुषों के लिए इस जीवन के बाद स्वर्ग का राज्य दिया गया। इसका तो हमें पता नहीं कि वे उसे सचमुच पावेंगे या नहीं, किन्तु इस संसार में तो उनके हिस्से गुलामी ही पड़ी है। अब प्रकृत विषय की ओर हम फिरें। आपका दावा कि—"विश्वास करो। श्रद्धा अपने आप ही आ जायगी"—

बिलकुल सही है, भयङ्कर रूप से सही है। इस दुनियाँ की बहुत कुछ धर्मान्धता की जड़ इसी प्रकार की शिक्षा में मिलती है। अगर आप कुछ लोगों को बचपन में ही पकड़ पावें। उन्हें एक ही बात काफ़ी दिनों तक बार-बार बतलाते रहें, तो आप उनका विश्वास किसी भी विषय में जमा सकते हैं, इसी प्रकार आपके पक्के धर्मान्ध हिन्दू और मुसलमान तैयार किये जाते हैं। दोनों ही सम्प्रदायों में ऐसे थोड़े आदमी ज़रूर होंगे, जो अपने ऊपर लादे गये विश्वास के जामे से बाहर निकल पड़ेंगे। आपको क्या इसकी ख़बर है कि अगर हिन्दू और मुसलमान अपने धर्मशास्त्रों को परिपक्व बुद्धि होने के पहले न पढ़ें, तो वे उनके माने हुए सिद्धान्तों के ऐसे अन्ध-विश्वासी न होंगे और उनके लिये झगड़ना छोड़ देंगे। हिन्दू-मुसलिम झगड़ों की दवा है लड़कों की शिक्षा में धर्म को दूर रखना, किन्तु आप उसे पसन्द नहीं करेंगे। आपकी प्रकृति ही ऐसी नहीं है।

"आपने इस देश में, जहाँ साधारणतः लोग बहुत डरते हैं, साहस, कार्यशीलता और त्याग का अपूर्व उदाहरण दिखलाया है। इसके लिये हम लोगों के ऊपर आपका बहुत बड़ा ऋण है। किन्तु जब आपके कामों की अन्तिम आलोचना होने लगेगी, तब कहना ही पड़ेगा कि आपके प्रभाव से इस देश में मानसिक उन्नति को बहुत बड़ा आघात पहुँचा है।"

अगर २० वर्ष के किशोर को लड़का नहीं कहा जा सके, तो फिर मैं लड़का शब्द के रूप का 'प्रचलित' अर्थ ही नहीं जानता। सचमुच में मैं तो उम्र का ख़याल किये बिना ही स्कूल में पढ़ने वाले सभी किसी को लड़का या लड़की ही कहूँगा। मगर उस विद्यार्थी को हम लड़का कहें या सयाना आदमी? मेरा तर्क तो जैसा का तैसा ही रहता है। विद्यार्थी

एक सैनिक जैसा होता है और सैनिक की उम्र ४० साल की हो सकती है। जो नियम-सम्बन्धी बातों के विषय में कुछ भी नहीं कह सकता, अगर उसने उसे स्वीकार कर लिया है और उसके आधीन रहना पसन्द किया है। अगर सिपाही को किसी आज्ञा के पालन करने या न करने का अधिकार अपनी स्वेच्छा से प्राप्त हो तो वह अपनी सेना में नहीं रखा जा सकता। उसी प्रकार कोई भी विद्यार्थी चाहे वह कितना ही सयाना और बुद्धिमान क्यों न हो, किन्तु एक बार किसी स्कूल में जभी आप दाखिल हो जाता है, तभी उसके नियमों के विरुद्ध चलने का अधिकार खो बैठता है। यहाँ उस विद्यार्थी की बुद्धि का कोई अनादर या अवगणना नहीं करता। संयम के नीचे स्वेच्छा से आना ही बुद्धि के लिये एक सहायतास्वरूप है। किन्तु मेरे पत्र-लेखक शब्दों के अत्याचार का भारी जुआ अपने कन्धे पर सहते हैं। काम करने वाले के हरेक काम में जो उसे पसन्द न पड़े, उन्हें बलात्कार की गन्ध मिलती है, मगर बलात्कार भी तो कई प्रकार का होता है। स्वेच्छा से स्वीकृत बलात्कार का नाम हम आत्म-संयम रखते हैं। उसे हम छाती से लगा लेते हैं और उसी के नीचे हमारा विकास होता है। किन्तु हमारी इच्छा के विरुद्ध जो बलात्कार हमारे ऊपर लादा जाता है और वह भी इस नीयत से कि हमारा अपमान किया जाय और मनुष्य या यों कहो कि लड़के की हैसियत से हमारे मनुपत्व का हरण किया जाय, वह दूसरा बलात्कार ऐसा होता है, जिसका प्राणपन से त्याग करना चाहिए।

सामाजिक संयम साधारणतः लाभदायक ही होते हैं, किन्तु उनका हम त्याग करके आप हानि उठाते हैं। रेंगकर चलने की आज्ञाओं का पालन करना नामर्दी और कायरता है। उससे भी बुरा है उन विकारों के समूह के आगे झुकना, जो दिन-रात हमें घेरे रहते हैं और हमें अपना गुलाम बनाने को तैयार रहते हैं।

किन्तु पत्र-लेखक को अभी एक और शब्द है, जो अपने बन्धन में बाँधे हुए है; यह महाशब्द है 'बुद्धिवाद'। हाँ, मुझे इसकी पूरी मात्रा मिली थी। अनुभव ने मुझे इतना नम्र बना दिया है कि मैं बुद्धि के ठीक २ हदों को समझ सकूं। जिस प्रकार ग़लत स्थान पर रखे जाने से कोई वस्तु गन्दी गिनी जाने लगती है, उसी प्रकार बेमौके प्रयोग करने से बुद्धि को भी पागलपन कहा जाता है। जिसका जहाँ तक अधिकार है, अगर उसका प्रयोग हम वहीं तक करें तो सब कुछ ठीक रहेगा।

बुद्धिवाद के समर्थक पुरुष प्रशंसनीय होते हैं, किन्तु बुद्धिवाद को तब भयङ्कर राक्षस का नाम देना चाहिए, जब वह सर्वज्ञता का दावा करने लगे। बुद्धि को ही सर्वज्ञ मानना उतनी ही बुरी मूर्ति-पूजा है, जितनी ईंट-पत्थर को ही ईश्वर मानकर पूजा करना।

प्रार्थना की उपयोगिता को किसने तर्क से निकाल कर जाँचा है? अभ्यास के बाद ही इसकी उपयोगिता का पता चलता है। संसार की गवाही यही है। जिस समय कार्डिनल न्यूमैन ने गाया था कि "मेरे लिये एक पग ही काफ़ी है"—उन्होंने बुद्धि का त्याग ही नहीं कर दिया था, किन्तु प्रार्थना को उससे ऊँचा स्थान दिया था।

शङ्कराचार्य तो तर्कों के राजा थे। संसार के साहित्य में ऐसी ही कोई वस्तु हो जो शङ्कर के तर्क-वाद से आगे बढ़ सके। किन्तु उन्होंने पहला स्थान प्रार्थना और भक्ति को ही दिया था।

पत्र लेखक ने क्षणिक और क्षोभक घटनाओं को लेकर साधारण नियम बनाने में जल्दी की है। इस संसार में सभी वस्तुओं का दुरुपयोग होने लगता है। मनुष्य की सभी वस्तुओं के लिए यह नियम लागू होता है। इतिहास में कई एक बड़े बड़े अत्याचारों के लिए धर्म के झगड़े ही उत्तरदायी हैं। या धर्म का दोष नहीं है, किन्तु मनुष्य के

भीतर की दुर्दमनीय पशुता का है। मनुष्य के पूर्वज पशुओं का गुण उसमें भी अभी शेष है।

मैं एक भी ऐसे बुद्धिवादी को नहीं जानता हूँ, जिसने कभी एक भी काम केवल विश्वास के वशीभूत होकर न किया हो, बल्कि सभी कामों का तर्क के द्वारा निश्चय करके किया हो, किन्तु हम सब उन करोड़ों आदमियों को जानते हैं, जो अपना नियमित जीवन इसी कारण बिता पाते हैं कि हम सब के बनाने वाले सृष्टिकर्ता में उनका विश्वास है। वह विश्वास ही एक प्रार्थना है। वह लड़का जिसके पत्र के आधार पर मैंने अपना लेख लिखा था, उस बड़े मनुष्य समुदाय में एक है और उसे और उसी के समान दूसरे सत्य शोधकों को अपने पथ पर दृढ़ करने के लिए लिखा गया था। पत्र लेखक के समान बुद्धिवादियों की शान्ति को लूटने के लिए नहीं।

मगर वे तो उस झुकाव से ही झगड़ते हैं जो शिक्षक या गुरुजन बालकों को बचपन में देना चाहते हैं। मगर यह कठिनाई अगर कठिनाई है तो बचपन की उस उम्र के लिए जब कि असर डाला जा सकता है बराबर ही बनी रहेगी। शुद्ध धर्म विहीन शिक्षा भी बच्चों के मन की शिक्षा का एक ढंग ही है। पत्र लेखक यह स्वीकार करने की भलमनसाहत दिखलाते हैं कि मन और शरीर को तालीम दी जा सकती है और रास्ता सुझाया जा सकता है। आत्मा के लिए जो शरीर और मन को बनाती है, उन्हें कुछ परवाह नहीं है। शायद उसके अस्तित्व में ही उन्हें कुछ शंका है, मगर उनके अविश्वास से उनका कुछ काम नहीं सरेगा। वे अपने तर्क के परिणाम से बच नहीं सकते। क्योंकि कोई विश्वासी सज्जन क्यों पत्र लेखक के ही क्षेत्र पर बहस करें कि जैसे दूसरे लोग बच्चों के मन और शरीर पर असर डालना चाहते हैं, वैसे ही आत्मा पर भी असर डालना जरूरी है। सच्ची धार्मिक भावना के उदय होते ही,

धार्मिक शिक्षा के दोष गायब हो जायेंगे। धार्मिक शिक्षा को छोड़ देना वैसा ही है कि जैसे किसी किसान ने यह न जान कर कि खेत का कैसे उपयोग करना चाहिये, उसमें ख़र पात उग जाने दिया हो।

आलोच्य विषय से, महान् आविष्कारों का वर्णन जैसा कि लेखक ने किया है, बिलकुल अलग है। उन आविष्कारों की उपयोगिता या चमत्कारिता में कोई नहीं सन्देह करता है, मैं नहीं करता। बुद्धि के समुचित उपयोग के लिए वे ही साधारणतः समुचित क्षेत्र थे। किन्तु प्राचीन लोगों ने प्रार्थना और भक्ति की मूल भित्ति को अपने जीवन से दूर नहीं कर दिया था। श्रद्धा और विश्वास के बिना जो काम किया जाता है, वह उस बनावटी फूल के समान होता है जिसमें सुवास न हो। मैं बुद्धि को दबाने को नहीं कहता, किन्तु हमारे बीच जिस वस्तु ने बुद्धि को ही पवित्र बनाया है, उसे स्वीकार करने को कहता हूं।

वर्ण और जाति

एक विद्यार्थी अपने नाम-ठाम के साथ लिखते हैं—

"मैं जानता हूँ कि आप हिन्दुस्तान के क़ौमी सवाल के बारे में रात दिन उग्रता पूर्वक विचार कर रहे हैं। और आपने यह ऐलान किया है कि गोल मेज़ परिषद् में आपके शामिल होने की दो शर्तों में इस सवाल का हल एक शर्त है। आज छोटी क़ौमों की समस्या का हल ख़ास कर उन उन क़ौमों के नेताओं पर निर्भर करता है, परन्तु सारे क़ौमी झगड़ों की जड़ को ही उखाड़ फेंकने के लिये वे लोग यदि किसी काम चलाऊ समझौते पर पहुँच भी सकें तो भी वह काफ़ी न होगा।

तमाम क़ौमी भेदभाव की जड़ें काटने के लिए बहुत अधिक मात्रा सामाजिक संसर्ग अनिवार्य है। आज तो हर एक क़ौम का सामाजिक जीवन दूसरी सब जातियों और क़ौमों के जीवन से पृथक् व अछूता

सा होता है। हिन्दू मुसमानों को ही लीजिए। हिन्दुओं के बड़े बड़े त्योहारों के मौके पर मुसलमान भाई हिन्दुओं का सत्कार नहीं करते, यही हाल मुस्लिम त्योहारों का है। इसके फलस्वरूप क़ौमीं एकान्तिकता की जो भावना पैदा होती है, वह देश के हित के लिए बहुत ही हानिकारक है।

दूसरा उपाय जो कुछ लोगों ने बताया है, वह क़ौमों के परस्पर ब्याह-सम्बन्ध का होना है। परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ, आप जाति-पाँति में दृढ़ आस्था रखते हैं यानी इसका मतलब यह हुआ कि आपकी राय में अन्तर्जातीय ब्याह सुदूर भविष्य में भारतियों के लिए आपत्ति रूप सिद्ध होंगे। जब तक इन दो कौमों में थोड़ा भी अलगाव रहेगा, तब तक क़ौमी भेद भाव को पूरी तरह नष्ट करना टेढ़ी खीर है।

'नवीन भारत' के धर्मराज में जुदा जुदा क़ौमों के दरम्यान आप अपने मतानुसार कैसे सम्बन्ध की कल्पना करते हैं? क्या भिन्न भिन्न क़ौमें आज की तरह सामाजिक व्यवहार में अलग ही रहेंगी? मैं मानता हूँ कि इस सवाल के निपटारे पर भारतीय राष्ट्र का भावी कल्याण निर्भर है।

एक बात और। यदि हम जाति-पाँति को मानते हैं, तो 'अस्पृश्य' कहे जाने वाले लोगों की स्थिति बहुत नाजुक हो जाती है। यदि हमें 'अस्पृश्यों' का उद्धार करना हो तो हम जातियों के बन्धन को चालू रख ही नहीं सकते। जाति और धर्म का भेद पृथकता का जो वातावरण उत्पन्न करता है, वह विश्व बन्धुत्व की वृद्धि की दृष्टि से शाप रूप है। जाति-पांति की व्यवस्था उच्चता की मिथ्या भावना पैदा करती है, जिसका नतीजा बुरा होता है। तो इन पुराने जाति-पाँति के बन्धनों में अपनी श्रद्धा उचित है, यह कैसे साबित किया जाय?

ये सवाल महीनों से मेरे दिमाग़ में चक्कर काट रहे हैं, पर मैं आपका दृष्टिकोण समझ नहीं सका हूँ ? इन प्रश्नों का निपटारा करने के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरी कठिनाई दूर करें।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० का विद्यार्थी हूँ। चाहे जिस तरह क्यों न हो, हिन्दू मुसलमानों के दरम्यान भाईचारे के ख़याल पैदा करने के लिए मैं आतुर हूँ। परन्तु मेरे सामने कठिनाइयाँ सचमुच ही बहुतेरी हैं। उनमें से एक जाति-पाँति के बारे में है, जो मैं आपसे अर्ज़ कर चुका हूँ। दूसरी मांसाहार के बारे में है। जिस मुसलमान खाने में माँस परोसा जाय उसमें मैं किस प्रकार शामिल हो सकता हूँ। मेरी रहनुमाई कर सकने वालों में आपसे बेहतर दूसरा कोई नहीं है, इसलिए इस पत्र द्वारा मैं आपकी सेवा में उपस्थित होता हूँ।"

यह कहना एक दम सच तो नहीं है कि हिन्दू मुसलमान एक दूसरे के त्यौहारों के अवसर पर परस्पर सत्कार नहीं करते। परन्तु यह अवश्य ही अभीष्ट है कि ऐसे सत्कार का आदान प्रदान बहुत ही अधिक अवसरों पर और अधिक व्यापक रूप में हो।

जाति-पाँति के बारे में मैं कई बार कह चुका हूँ कि आधुनिक अर्थ में मैं जाति पाँति नहीं मानता। वह विजातीय चीज़ है और प्रकृति में विघ्नरूप है। इस तरह मैं मनुष्य-मनुष्य के बीच की असमानताओं को भी नहीं मानता। हम सब सम्पूर्णतया सामान्य हैं, पर सामान्यता आत्माओं की है, शरीरों की नहीं। इसलिये वह एक मानसिक अवस्था है। समानता का विचार करने और ज़ोर देकर उसे प्रकट करने की आवश्यकता रहती है, क्योंकि इस भौतिक जगत में हम बड़ी-बड़ी असमानतायें देखते हैं। इस बाह्य असमानता के आभास में हमें समानता सिद्ध करनी है। कोई भी आदमी किसी भी दूसरे आदमी की अपेक्षा अपने

को उच्च माने, तो वह ईश्वर और मनुष्य के समक्ष पाप है। इस प्रकार जाति-पांति जिस हद तक दर्जे के भेद की सूचक है, बुरी चीज़ है।

परन्तु वर्ण मैं अवश्य मानता हूं। वर्ण की रचना वंश परम्परा-गत धन्धों की बुनियाद पर है। मनुष्य के चार सर्वव्यापी धन्धों—ज्ञान देना, आर्त की रक्षा करना, कृषि और वाणिज्य और शारीरिक श्रम द्वारा सेवा की समुचित व्यवस्था करने के लिए चार वर्णों का निर्माण हुआ है। ये धन्धे समस्त मानव जाति के लिए एक से हैं। परन्तु हिन्दू धर्म ने इन्हें जीवन धर्म के रूप में स्वीकार करके सामाजिक सम्बन्ध और आचार व्यवहार के नियमन के लिए इनका उपयोग किया है। गुरुत्वा-कर्षण के अस्तित्व को हम जानें या न जानें, तो भी हम सब पर उसका असर होता है। लेकिन वैज्ञानिकों ने, जो इस नियम को जानते हैं, उसमें से जगत् को आश्चर्य चकित करने वाले फल निपजाये हैं। इसी तरह हिन्दू धर्म ने वर्ण धर्म की खोज और उसका प्रयोग करके जगत को आश्चर्य में डाला है, जब हिन्दू जड़ता के शिकार हो गये तब वर्ण के दुरुपयोग के फल स्वरूप बेशुमार जातियाँ बन गईं और रोटी-बेटी व्यवहार के अनावश्यक बन्धन पैदा हुए, वर्ण धर्म का इन बन्धनों से कोई सम्बन्ध नहीं है, जुदा जुदा वर्णों के लोग परस्पर रोटी-बेटी का व्यवहार रख सकते हैं। शील और आरोग्य के ख़ातिर ये बन्धन आव-श्यक हो सकते हैं। परन्तु जो ब्राह्मण शूद्र कन्या को या शूद्र ब्राह्मण कन्या को व्याहता है, वह वर्ण धर्म का लोप नहीं करता।

अपने धर्म के बाहर ब्याह करने वाला सवाल जुदा है इसमें जब तक स्त्री-पुरुष में से हर एक को अपने अपने धर्म का पालन करने की छूट होती है, तब तक नैतिक दृष्टि से मैं ऐसे विवाह में कोई आपत्ति नहीं समझता, परन्तु मैं नहीं मानता कि ऐसे विवाह सम्बन्धों के फल स्वरूप शान्ति कायम होगी। शान्ति स्थापित होने के बाद ऐसे

सम्बन्ध किये जा सकते हैं सही। जब तक हिंदू मुसलमान के दिल फटे हुए हैं, तब तक हिंदू मुसलमान विवाह सम्बन्धों की हिमायत करने का फल मेरी दृष्टि में सिवा आपत्ति के और कुछ न होगा। अपवाद रूप परिस्थिति में ऐसे सम्बन्धों का सुखदायी साबित होना, उन्हें सर्व व्यापक बनाने की हिमायत करने के लिए कारण रूप माने ही नहीं जा सकते, हिन्दू मुसलमानों में खान पान का व्यवहार आज भी बड़े पैमाने पर होता है। परन्तु इससे भी शान्ति में वृद्धि तो नहीं ही हुई। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि रोटी-बेटी व्यवहार का क़ौमी इत्तिफ़ाक़ से कोई सम्बन्ध नहीं है। झगड़े के कारण तो आर्थिक और राजनैतिक हैं और उन्हीं को दूर करना है। यूरोप में रोटी–बेटी व्यवहार है, फिर भी जिस तरह यूरोप वाले आपस में कट मरे हैं, वैसे तो हम हिन्दू मुसलमान इतिहास में कभी लड़े नहीं। हमारे जन-समूह तो तटस्थ ही रहे हैं।

'अस्पृश्यों' का एक जुदा वर्ग है; और हिन्दू धर्म के सिर कलङ्क का टीका है। जातियाँ विघ्न रूप हैं, पाप-रूप नहीं। अस्पृश्यता तो पाप है और भयंकर अपराध है; और यदि हिन्दू धर्म ने इस सर्प का समय रहते नाश नहीं किया, तो यह हिन्दू धर्म को ही खा जायगा। अस्पृश्य अब हिन्दू धर्म के बाहर कभी गिने ही न जाने चाहिए। वे हिन्दू समाज के प्रतिष्ठित सदस्य माने जाने चाहिए; और उनके पेशे के अनुसार, वे जिस वर्ण के योग्य हों, उस वर्ण के वे माने जाने चाहिए।

वर्णों की मेरी व्याख्यानुसार तो आज हिन्दू धर्म में वर्ण-धर्म का पालन होता ही नहीं। ब्राह्मण नाम धारियों ने विद्या पढ़ाना छोड़ दिया है, वे दूसरे अनेक धन्धे करने लगे हैं, यही बात कमोबेश दूसरे वर्णों के लिए भी सच है। वस्तुतः तो विदेशियों के जुए के नीचे होने की वजह

से हम सब गुलाम हैं और इस कारण शूद्रों से भी हल्के—पश्चिम के अस्पृश्य हैं।

इस पत्र के लेखक अन्नाहारी होने की वजह से, मांसाहारी मुसलमान के साथ खाने के लिए मन को समझाने में, कठिनाई अनुभव करते हैं, परन्तु वह याद रक्खें कि मांसाहार करने वाले मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू ज्यादा हैं। जब तक अन्नाहारी को स्वच्छता पूर्वक पकाया हुआ, ऐसा भोजन न परोसा जाय; जिसे खाने में कोई बाधा न हो, तब तक उसे हिन्दू या अन्य मांसाहारी के साथ बैठ कर खाने की छूट है। फल और दूध तो उसे जहाँ जायगा, सदा मिल सकेंगे।

विद्यार्थियों का भाग

पचियप्पा कॉलेज में बोलते हुए गांधीजी ने कहा:—

"दरिद्र नारायण के लिए, आपकी भेंटों के लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूँ। यह मैं पहले ही पहल इस मकान में नहीं घुस रहा हूँ। पहले-पहल तो मैं यहाँ पर १८९६ की साल में दक्षिण अफ्रीका के युद्ध के सम्बन्ध में आया था। उस सभा की याद दिलाने की वजह यह है कि, उसी बार पहले-पहल मैंने हिन्दुस्तान के विद्यार्थियों से परिचय किया था, जैसा कि शायद तुम जानते होगे, मैंने सिर्फ मैट्रीकूलेशन परीक्षा भर पास की है, इसीलिए कालेज की शिक्षा तो हिन्दुस्तान में मुझे नहीं सी ही मिली थी। उस बार सभा समाप्त होने के बाद, मैं विद्यार्थियों के पास गया, जो मेरा रास्ता देख रहे थे। उन्होंने मुझ से उस हरी चौपतिया की सभी प्रतियाँ ले लीं, जो उन दिनों मैं बाँट रहा था। उन विद्यार्थियों के ही लिए मैंने स्व० मि० जी० परमेश्वरन पिल्ले को जिन्होंने सब से अधिक प्रेम मेरे और मेरे कामों के प्रति दिखलाया था, उसकी

और प्रतियाँ बाँटने को कहा। उन्होंने बड़ी खुशी से १०,००० प्रतियाँ छापीं। दक्षिण अफ्रीका की स्थिति समझने के लिए विद्यार्थी इतने आतुर थे। इसे देख मुझे बड़ा आनन्द हुआ और मैंने अपने मन में कहा "हिन्दुस्तान को अपने लड़कों पर गर्व हो सकता है और उन पर वह अपनी सभी उम्मीदें बाँध सकता है।" तब से विद्यार्थियों के साथ मेरा परिचय दिन-दिन बढ़ता ही गया है, घनिष्ट होता गया है। जैसा कि मैंने बंगलोर में कहा था, जो अधिक देते हैं, उनसे और अधिक की आशा रखी जाती है; और चूंकि तुम ने मुझे इतना दिया है, कि तुमसे और अधिक की उम्मीद का मुझे हक मिल गया है। जो कुछ तुम मुझे दो, मैं सन्तुष्ट नहीं हो सकता। मेरे कुछ कामों का तुम ने समर्थन किया है। मानपत्र में तुमने दरिद्र-नारायण का नाम प्रेम और श्रद्धा से लिया है; और आप (मुख्याध्यापक) ने चर्खे की ओर से मेरे दावे का समर्थन किया है; और इसमें मुझे कोई शक नहीं है कि सच्चे दिल से किया है। मेरे कई प्रतिष्ठित और विद्वान् देश बन्धुओं ने उस दावे को इनकार किया है। वे कहते हैं कि इस चर्खे को अलग हटा कर हमारी माँ-बहिनों ने ठीक ही किया है और इससे स्वराज्य कभी नहीं मिल सकता। मगर तो भी आपने मेरा दावा मान कर, मुझे बहुत आनन्द दिया है। अगर्चे कि तुम विद्यार्थियों ने इसके बारे में बहुत कुछ नहीं कहा है, मगर इतना जरूर कहा है जिससे यह आशा की जा सके कि, तुम्हारे दिल के किसी कोने में चर्खे को सच्ची जगह है। इसलिए तुम चर्खे के लिए सारा प्रेम इस थैली से शुरू कर के इसी पर खत्म न कर दो। मैं तुम्हें कहे देता हूँ कि चर्खे के लिए तुम्हारे प्रेम का यही आखिरी चिह्न होवे, तो यह मेरे लिए भार होगा। क्योंकि अगर तुम खादी पहिनोगे ही नहीं, तो इन रुपयों को करोड़ों ग़रीबों में बाँट कर और खादी बनवा कर ही मैं क्या करूँगा। आखिर चर्खे से जवानी प्रेम

दिखलाने और मेरे आगे कुछ रुपये घमण्ड से फेंक देने से स्वराज्य नहीं मिल सकेगा, भूखों मरते हुए और सख्त परिश्रम करते हुए करोड़ों की दिन-दिन बढ़ती हुई ग़रीबी का सवाल हल नहीं होगा। इस वाक्य को सुधारना होगा। मैंने कहा था सख्त परिश्रम करते हुए करोड़ों। क्या ही अच्छा होता, अगर यह वर्णन सही होता। मगर दुर्भाग्य से हमने करोड़ों के लिये अपनी पसन्दगी बदली नहीं है, इन भुक्खड़ करोड़ों के लिये साल भर तक काम करना असम्भव कर दिया है। उनके ऊपर हमने साल में कम से कम चार महीनों की छुट्टी ज़बरदस्ती लाद दी है, जो उन्हें नहीं चाहिये। इसलिये अगर यह थैली लेकर मैं जाऊँ और भूखी बहनों में बाँट दूं, तो सवाल हल नहीं होता। इससे उलटे उसकी आत्मा का नाश होगा। वे भिखारिन बन जाँयगी। हम और तुम तो उन्हें काम देना चाहते हैं जो वे घर पर महफ़ूज़ बैठी कर सकें और सिर्फ यही काम उन्हें दे सकते हैं। मगर जब यह किसी ग़रीब बहन के पास पहुँचता है, इसके सोने के फल लगते हैं। अगर तुम आगे से सिर्फ खादी ही खादी पहनने का इरादा न कर लो, तो तुम्हारी यह थैली मेरे लिये भाररूप ही बन जायगी।

अगर चर्खे में आपका जीवन-विश्वास न हो, तो उसे छोड़ दीजिये। तुम्हारे प्रेम का यह अधिक सच्चा प्रदर्शन होगा और तुम मेरी आँखें खोल दोगे। मैं गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाता फिरूँगा कि "तुमने चर्खे को त्यागकर दरिद्रनारायण को ठुकरा दिया है।"

ब्राह्मणत्व या पशुत्व

आपने बाल विवाह और विधवा बालिकाओं का ज़िक्र किया है। एक प्रतिष्ठित तामिल मित्र ने मुझे बाल-विधवाओं पर कुछ कहने को लिखा है। उन्होंने कहा है कि हिन्दुस्तान के और हिस्सों से यहाँ की

बाल-विधवाओं के कष्ट कहीं अधिक हैं। मैं अब तक इस बात की जाँच नहीं कर सका हूँ। मगर, ऐ नौजवानो! मैं चाहता हूँ कि तुममें कुछ वीरता हो। अगर तुममें वह है, तो मुझे बहुत बड़ी सूचना करनी है। मैं आशा करता हूँ कि तुममें से अधिकांश अब तक अविवाहित हो और बहुत से ब्रह्मचारी भी हों। मुझे "बहुत से" इसलिये कहना पड़ता है कि जो विद्यार्थी अपनी बहिन पर विषय की नज़र डालता है, वह ब्रह्मचारी नहीं है। मैं चाहता हूँ कि तुम यह पवित्र प्रतिज्ञा लो कि तुम बाल-विधवा लड़की से ही विवाह करोगे और अगर कोई बाल विधवा नहीं मिली, तो विवाह ही नहीं करोगे। मैं उन्हें विधवा लड़की सुधार के साथ कहता हूँ कि उस लड़की को मैं विधवा ही नहीं मानता, जो १०-१५ साल की उम्र में बिना पूछे-ताछे ब्याह दी जाय और जो उस नामधारी पति के साथ कभी रही भी न हो, मगर एक-ब-एक विधवा करार दी जाय। हिन्दू-धर्म में 'विधवा' शब्द पवित्र माना जाता है। मैं स्व० श्रीमती रमाबाई रानडे जैसी सच्ची विधवाओं का, जो जानती हैं कि वैधव्य क्या है, पूजक हूँ। मगर ९ साल की बच्ची कुछ नहीं जानती कि पति क्या कहलाता है? मेरा यह बहम सा है कि इन सभी पापों का फल राष्ट्रों को भोगना पड़ता है। मैं विश्वास करता हूँ कि हमारे ऐसे सभी पाप हमें गुलाम बनाये रखने को इकट्ठे हुए हैं। पार्लियामेण्ट से अच्छे से अच्छे सुधार या सरकार के तुम सपने देख सकते हो, मगर उससे काम लेने को योग्य मर्द और औरतें नहीं हुईं तो वह कौड़ी काम का नहीं होगा। क्या तुम समझते हो कि जब तक एक भी विधवा ऐसी है, जो अपनी मुख्य ज़रूरियात पूरी करनी चाहती है, मगर जबरन् रोकी जाती है। अपने ऊपर या दूसरों के ऊपर शासन करने या इन करोड़ आदमियों के भाग्य-विधाता बनने लायक हैं? यह धर्म नहीं, अधर्म है। हिन्दू-धर्म मेरी नस-नस में घुसा हुआ होने पर भी मैं यह कहता हूँ।

यह मत भूल करो कि मुझसे पश्चिमी भावनायें ये शब्द कहला रही हैं। हिन्दू-धर्म में ऐसे वैधव्य को स्थान नहीं है।

जो कुछ कि मैंने बच्ची विधवाओं के बारे में कहा है, वह बालिका-पत्नियों पर भी वैसा ही लागू है। तुम अपनी विषयेच्छा का इतना संयम तो ज़रूर करलो कि १६ साल से कम उम्र की लड़की से विवाह ही न करो। अगर मेरी चलती तो मैं उम्र की हद कम से कम २० साल रखता। हिन्दुस्तान में बीस साल की उम्र तक भी जल्दी ही कही जायगी। लड़कियों के जल्दी सयाने हो जाने के लिये तो हिन्दुस्तान की आब हवा नहीं, बल्कि हमीं ज़िम्मेवार हैं। मैं २०-२० साल की ऐसी लड़कियों को जानता हूँ, जो शुद्ध और पवित्र हैं और अपने चारों ओर के इस तूफ़ान को सह रही हैं। कुछ ब्राह्मण विद्यार्थी मुझसे कहते हैं कि हम इस असूल से नहीं चल सकते। हमें १६ साल की ब्राह्मण-लड़कियाँ मिलती ही नहीं हैं, क्योंकि ब्राह्मण तो अपनी लड़कियों का विवाह १०, १२ या १३ साल की उम्र से भी पहले कर देते हैं। तब मैं उन ब्राह्मणों से कहता हूँ कि अगर अपना संयम तुम नहीं कर सकते, तो ब्राह्मण कहलाना छोड़ दो। अपने लिये तुम १६ साल की लड़की ढूंढ लो, जो बचपन में ही विधवा हो गयी है। अगर तुम्हें उस उम्र की बालिका नहीं मिलती है, तो जाओ और किसी ऐसी लड़की से ब्याह कर लो। और मैं तुम्हें कहता हूँ कि हिन्दुओं का परमात्मा उस लड़के को ज़रूर ही क्षमा करेगा, जो १२ साल की लड़की पर बलात्कार करने के बदले अपनी जाति के बाहर शादी कर लेता है। ब्राह्मणत्व की मैं पूजा करता हूँ। वर्णाश्रम धर्म का मैंने समर्थन किया है, मगर जो ब्राह्मणत्व अस्पृश्यता का आश्रय लिये हुए है, अवयस्क विधवाओं को सहन करता है, विधवाओं पर अत्याचार करता है, वह ब्राह्मणत्व मुझे मान्य नहीं है। यह तो ब्राह्मणत्व का अपमान है, तमाशा है। यहाँ ब्रह्म का कोई ज्ञान छिपा हुआ

नहीं है। इसमें शास्त्रों का सही अर्थ नहीं है। यह तो निरी पशुता है। ब्राह्मणत्व तो इससे बड़ी चीज़ होती है।

तम्बाकू के दोष

कलिकट के एक अध्यापक की प्रार्थना के मुताबिक मैं अब सिगरेट पीने और चाय, कहवा वगैरह पीने के दोषों पर कुछ कहूँगा। जीने के लिये ये चीज़ें कुछ ज़रूरी नहीं हैं। अगर जगे रहने के लिये चाय या कहवा ज़रूरी होवे, तो वे इन्हें न पीकर भले ही सो जावें। हमें इनका गुलाम नहीं बनना होगा, मगर चाय, काफ़ी पीने वाले तो इनके अधिकांश गुलाम बन जाते हैं; चाहे देशी हों या विलायती। मगर सिगार या सिगरेट को तो छोड़ना ही होगा। सिगरेट पीना तो अफ़ीम खाना जैसा है और सिगार में तो सचमुच ही ज़रा सी अफ़ीम होती है। ये चीज़ें स्नायुओं पर असर करती हैं और फिर इनसे पीछा छुड़ाना असम्भव है। अगर तुम सिगार, सिगरेट, चाय, काफ़ी पीने की आदत छोड़ दो, तो तुम आप ही देख सकोगे कि तुम कितने की बचत कर लेते हो। टाल्सटॉय की एक कहानी में कोई शराबी खून करने से तभी तक हिचक रहा था, जब तक कि उसने सिगरेट नहीं पिया। मगर सिगरेट की फूंक उड़ाते ही वह उठ खड़ा होता है और कहता है, 'मैं भी क्या ही कायर हूँ' और खून कर बैठता है। टाल्सटॉय ने तो जो लिखा है, अनुभव से ही लिखा है और वे शराब से अधिक विरोध सिगार और सिगरेट का करते हैं। मगर यह भूल मत करो कि शराब और तम्बाकू में शराब कम बुरी है। नहीं, सिगरेट अगर तक्षक है तो शराब असुरों का राजा।

विद्यार्थी परिषद्

सिन्ध की छठी विद्यार्थी परिषद के मंत्री ने मुझे एक छपा हुआ पत्र भेजा है, जिसमें मुझसे सन्देश माँगा गया है। इसी बात के लिये

मुझे एक तार भी मिला है, परन्तु मैं ऐसे स्थान में था, जो एक तरफ था। इसलिये वह चिट्ठी और तार भी मुझे इतनी देर से मिले कि मैं परिषद् को कोई सन्देश नहीं भेज सका, और न अब मैं ऐसी परिस्थिति में हूँ, जो इन सन्देश, लेख आदि को भेजने के लिये की जाने वाली प्रार्थनाओं को स्वीकृत कर सकूं। पर चूंकि मैं विद्यार्थियों से सम्बन्ध रखने वाली हर एक बात में दिलचस्पी रखने का दावा करता हूं और चूँकि मैं भारत के विद्यार्थी-वर्ग के सम्पर्क में अक्सर रहता हूँ। अपने मन ही मन उस छपे पत्र में लिखे कार्यक्रम पर टीका किये बिना मुझसे नहीं रहा गया। इस लिये अब यह सोचकर कि वह टीका उपयोगी होगी, मैं उसे लिख कर विद्यार्थी-जगत के सामने पेश करता हूं। मैं नीचे लिखा अंश उस पत्र से उद्धृत करता हूं, जो एक तो छपा भी बुरी तरह है और जिसमें ऐसी-ऐसी ग़लतियाँ रह गई हैं, जो विद्यार्थियों की संस्था के लिये अक्षम्य हैं।

"इस परिषद् के सङ्गठनकर्ता इसे मनोरञ्जन और शिक्षाप्रद बनाने के लिये अपनी शक्ति भर प्रयत्न कर रहे हैं। हम शिक्षा विषयक कई वार्तालाप कराने की भी सोच रहे हैं और हम आपसे विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं कि आप भी हमें अपनी उपस्थिति का लाभ दें। सिन्ध में स्त्री शिक्षा का प्रश्न ख़ास तौर से विचारणीय है। विद्यार्थियों की अन्य आवश्यकताएँ भी हमारे ध्यान से छूटी नहीं हैं। खेल-कूद प्रतियोगितायें आदि भी होंगी। साथ ही वक्तृत्व में भी प्रतियोगिता होगी, इससे परिषद् और भी मनोरञ्जक हो जावेगी। नाटक और सङ्गीत को भी हमने छोड़ा नहीं है। अंग्रेज़ी और उर्दू के प्रबन्धों को भी रङ्गभूमि पर खेला जायगा।"

इस पत्र में से मैंने ऐसे एक भी वाक्य को नहीं छोड़ा है, जो हमें परिषद् के कार्य की कुछ कल्पना दे सकता हो। और फिर भी हमें

इसमें ऐसी एक भी वस्तु नहीं दिखाई देती जो विद्यार्थियों के लिए चिर-स्थायी महत्व रखती हो। मुझे इसमें सन्देह नहीं कि नाटक-संगीत और खेल, कूद आदि "Grand scale" बड़े समारोह के साथ किये गये होंगे। उपर्युक्त शब्दों को मैंने उस पत्र से ज्यों का त्यों अवतरण चिह्नों में रख दिया है। मुझे इसमें भी सन्देह नहीं है कि इस परिषद् में स्त्री-शिक्षा पर आकर्षक प्रबन्ध पढ़े गये होंगे। परन्तु जहाँ तक इस पत्र से सम्बन्ध है, उस लज्जाजनक 'देने लेने' की प्रथा का उसमें कहीं भी उल्लेख नहीं है, जिससे कि विद्यार्थियों ने अभी अपने को मुक्त नहीं कर लिया है, जो सिंधी लड़कियों के जीवन को प्रायः नरकवास और उनके माता पिता के जीवन को एक घोर यम-यातना का काल बना देती है। पत्र से यह भी पता नहीं लगता कि परिषद् विद्यार्थियों के चरित्र और नीति के प्रश्न को भी सुलझाना चाहती है। वह पत्र यह भी नहीं कहता कि परिषद् विद्यार्थियों को निर्भय राष्ट्र निर्माता बनने की राह बताने के लिए कुछ करेगी। सिंध ने कितनी ही संस्थाओं को तेजस्वी प्रोफेसर दिये हैं। निःसन्देह यह उसके लिए एक गौरव की बात है। पर जो ज्यादह देते हैं, उनसे और भी ज्यादह की आशा की जाती है। मैं अपने सिंधी मित्रों का कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने गुजरात विद्यापीठ में मेरे साथ काम करने के लिए बढ़िया कार्य कर्त्ता मुझे दिये हैं। पर मैं प्रोफेसर और खादी कार्यकर्त्ता लेकर ही सन्तुष्ट होने वाला आदमी नहीं हूँ। सिंध में साधू वास्वानी हैं। सिंध और भी अपने कितने ही महान् सुधारकों पर अभिमान कर सकता है। परन्तु सिंध के विद्यार्थी ग़लती करेंगे यदि वे अपने साधुओं और सुधारकों से ज्ञान तथा गुण ग्रहण करके ही संतुष्ट होकर रह जावेंगे। उन्हें राष्ट्र-निर्माता बनना है। पश्चिम के इस नीच अनुकरण से तथा अँगरेजी में शुद्ध रीति से लिख पढ़ तथा बोल लेने से स्वाधीनता के मंदिर की एक भी ईंट नहीं बनेगी। विद्यार्थी वर्ग इस

समय ऐसी शिक्षा प्राप्त कर रहा है, जो भूखों मरने वाले भारत के लिए बड़ी मँहगी है। इसे तो बहुत थोड़े लोग एक नगण्य संख्या प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। इसलिये भारत विद्यार्थियों से आशा करता है कि वे राष्ट्र को अपना जीवन देकर उसके योग्य अपने को साबित करें। विद्यार्थियों को तमाम धीमी गति से चलने वाले सुधारों के नायक हो जाना चाहिए। राष्ट्र में जो अच्छी बातें हों उनकी रक्षा करते हुए समाज शरीर में घुसी हुई असंख्य बुराइयों को दूर करने में निर्भयता पूर्वक लग जाना चाहिए।

विद्यार्थियों की बातों को खोल कर वास्तविक बातों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने का काम इन परिषदों को करना चाहिए। इनको उन्हें उन बातों पर विचार करने का अवसर देना चाहिये, जिन्हें विदेशी वायुमण्डल से दूषित विद्यालयों में पढ़ने का मौका उन्हें नहीं मिलता। सम्भव है, ऐसी परिषदों में वे शुद्ध राजनैतिक समझे जाने वाले प्रश्नों पर बहस न भी कर सकते हों। पर वे आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर तो जरूर विचार-विनिमय कर सकते हैं, और उन्हें जरूर करना भी चाहिये। आज हमारे लिये ये प्रश्न भी उतना ही महत्व रखते हैं, जितना कि राजनैतिक प्रश्न। एक राष्ट्र विधायक कार्य-क्रम राष्ट्र के किसी भी हिस्से को अछूता नहीं छोड़ सकता। विद्यार्थियों को करोड़ों मूक देश भाइयों में काम करना होगा। उन्हें एक प्रांत एक शहर, एक वर्ग या एक जाति की भाषा में नहीं, बल्कि समस्त देश की भाषा में विचार करना सीख लेना चाहिये। उन्हें उन करोड़ों का विचार करना होगा जिनमें अत्यंत शराब खोर, गुण्डे और वेश्याएँ भी शामिल हैं और जिनके हमारे बीच अस्तित्व के लिये हम में से हर एक शख्स जिम्मेदार है।

विद्यार्थी प्राचीन काल में ब्रह्मचारी कहे जाते थे। ब्रह्मचारी के माने हैं वह, जो ईश्वर भीरु है। राजा और बड़े बूढ़े भी उनका आदर

करते थे। देश स्वेच्छा पूर्वक उनका भार वहन करता था और इसके बदले में वे उसकी सेवा में सौगुने बलिष्ठ आत्मा, मस्तिष्क और बाहु अर्पण करते थे।

आज कल भी आपद्ग्रस्त देशों में वे देश की आशा के अवलम्ब समझे जाते हैं, और उन्होंने स्वार्थ त्याग पूर्वक प्रत्येक विभाग में सुधारों का नायकत्व किया है। मेरे कहने का मतलब यह हर्गिज़ नहीं कि भारत में ऐसे उदाहरण नहीं हैं। वे हैं तो, पर बहुत थोड़े। मैं चाहता हूँ कि विद्यार्थियों की परिषदों को इस तरह के संगठनात्मक कामों को अपने हाथों में लेना चाहिये जो ब्रह्मचारियों की सुप्रतिष्ठा को शोभा दें।

उच्च शिक्षा

उच्च शिक्षा के बारे में कुछ समय पूर्व मैंने डरते-डरते संक्षेप में जो विचार प्रगट किये थे, उनकी माननीय श्री श्रीनिवास शास्त्री जी ने नुकताचीनी की थी, जिसका कि उन्हें पूरा हक़ है। मनुष्य, देशभक्त और विद्वान् के रूप में मेरे हृदय में उनके लिये बहुत ऊँचा आदर है। इसलिये जब मैं अपने को उनसे असहमत पाता हूँ, तो मेरे लिये हमेशा ही वह बड़े दुख की बात होती है। इतने पर भी कर्त्तव्य मुझे इस बात के लिये बाध्य कर रहा है कि उच्च शिक्षा के बारे में मेरे जो विचार हैं उन्हें मैं पहले से भी अधिक पूर्णता के साथ फिर से व्यक्त करदूं, जिससे कि पाठक खुद ही मेरे और उनके विचारों के भेद को समझ लें।

अपनी मर्यादाओं को मैं स्वीकार करता हूँ। मैंने विश्वविद्यालय की कोई नाम लेने योग्य शिक्षा नहीं पाई है। मेरा स्कूली जीवन भी औसत दर्जे से अधिक अच्छा कभी नहीं रहा। मैं तो यही बहुत समझता था कि किसी तरह इम्तहान में पास हो जाऊं। स्कूल में

डिस्टिंक्सन (यानी विशेष योग्यता) पाना तो ऐसी बात थी। जिसकी मैंने कभी आकांक्षा भी नहीं की। मगर फिर भी शिक्षा के विषय में जिसमें कि वह शिक्षा भी शामिल है, जिसे उच्च शिक्षा कहा जाता है, आम तौर पर मैं बहुत दृढ़ विचार रखता हूं। और देश के प्रति मैं अपना यह कर्त्तव्य समझता हूं कि मेरे विचार स्पष्ट रूप से सब को मालूम हो जांय और उनकी वास्तविकता उनके सामने आ जाय। इसके लिये मुझे अपनी उस भीरुता या संकोच भावना को छोड़ना ही पड़ेगा जो लगभग आत्मदमन की हद तक पहुँच गई है। इसके लिए न तो मुझे उपहास का भय रहना चाहिये न लोकप्रियता या प्रतिष्ठा घटने की ही चिंता होनी चाहिये, क्योंकि अगर मैं अपने विश्वास को छिपाऊंगा तो निर्णय की भूलों को कभी दुरुस्त न कर सकूंगा। लेकिन मैं तो हमेशा उन्हें ढूंढ़ने और उससे भी अधिक उन्हें सुधारकों के लिये उत्सुक हूं।

अब मैं अपने उन निष्कर्षों को बता दूं। जिन पर कि मैं कई बरसों से पहुँचा हुआ हूं और जब भी कभी मौक़ा मिला है उनको अमल में लाने की कोशिश की है।

१—दुनिया में प्राप्त होने वाली ऊँची से ऊँची शिक्षा का भी मैं विरोधी नहीं हूं।

२—राज्य को जहां भी निश्चित रूप से इसकी जरूरत हो वहां इसका खर्च उठाना चाहिये।

३—साधारण आमदनी द्वारा सारी उच्च शिक्षा का खर्च चलाने के मैं खिलाफ़ हूं।

४—मेरा यह निश्चित विश्वास है कि हमारे कालेजों में साहित्य की जो इतनी भारी तथा कथित शिक्षा दी जाती है, वह सब बिलकुल व्यर्थ है और उसका परिणाम शिक्षित वर्गों की बेकारी के रूप में हमारे

सामने आया है। यही नहीं बल्कि जिन लड़के लड़कियों को हमारे कॉलेजों की चक्की में पिसने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है। उनके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य को भी इसने चौपट कर दिया है।

४—विदेशी भाषा के माध्यम ने, जिसके जरिये कि भारत में उच्च शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को हद से ज्यादा बौद्धिक और नैतिक आघात पहुँचाया है। अभी हम अपने इस जमाने के इतने नज़दीक हैं कि इस नुकसान का निर्णय नहीं कर सकते और फिर ऐसी शिक्षा पाने वाले हमीं को इसका शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो कि लगभग असम्भव काम है"

अब मेरे लिये यह बतलाना आवश्यक है कि मैं इन निष्कर्षों पर क्यों पहुँचा। यह शायद अपने कुछ अनुभवों के द्वारा ही मैं सबसे अच्छी तरह बतला सकता हूं।

१२ बरस की उम्र तक मैंने जो भी शिक्षा पाई, वह भी अपनी मातृ भाषा गुजराती में पाई थी। उस वक्त गणित, इतिहास और भूगोल का मुझे थोड़ा थोड़ा ज्ञान था। इसके बाद मैं एक हाईस्कूल में दाखिल हुआ। इसमें भी पहिले तीन साल तक तो मातृ भाषा ही शिक्षा का माध्यम रही। लेकिन स्कूल मास्टर का काम तो विद्यार्थियों के दिमाग में जबर्दस्ती अँगरेज़ी ठूंसना था। इसलिये हमारा आधा से अधिक समय अँगरेज़ी और उसके मनमाने हिज्जों को कण्ठस्त करना एक अजीब सा अनुभव था। लेकिन यह तो मैं प्रसंग वश कह गया, वस्तुतः मेरी दलील से इसका कोई सम्बंध नहीं है। मगर पहले तीन साल तो तुलनात्मक रूप में ठीक ही निकल गये।

ज़िल्लत तो चौथे साल में शुरू हुई। अलजबरा, (बीज गणित) केमिस्ट्री (रसायन शास्त्र), एस्ट्रानामी (ज्योतिष, हिस्ट्री (इतिहास), ज्याग्राफी (भूगोल) हरेक विषय मातृभाषा के बजाय अंग्रेज़ी

में ही पढ़ना पड़ा। कक्षा में अगर कोई विद्यार्थी गुजराती, जिसे कि वह समझता था, बोलता तो उसे सजा दी जाती थी। हाँ, अंग्रेजी को, जिसे न तो वह पूरी तरह समझ सकता था और न शुद्ध बोल ही सकता था, अगर वह बुरी तरह बोलता तो भी शिक्षक को कोई आपत्ति नहीं होती थी। शिक्षक भला इस बात की फिक्र क्यों करे ? क्योंकि खुद उसकी ही अंग्रेजी निर्दोष नहीं थी। इसके सिवा और हो भी क्या सकता था ? क्योंकि अंग्रेजी उसके लिए भी उसी तरह विदेशी भाषा थी, जिस तरह की उसके विद्यार्थियों के लिए थी। इससे बड़ी गड़बड़ होती। हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कण्ठस्त करनी पड़ीं, हालां कि हम उन्हें पूरी तरह नहीं समझ सकते थे और कभी कभी तो बिल्कुल ही नहीं समझते थे। शिक्षक के हमें ज्यामेट्री (रेखा गणित) समझाने की भरपूर कोशिश करने पर मेरा सिर घूमने लगता। सच तो यह है कि यूक्लिड (रेखा गणित) की पहली पुस्तक के १३ वें साध्य तक जब तक हम न पहुँच गये, मेरी समझ में ज्यामेट्री बिल्कुल नहीं आई। और पाठकों के सामने मुझे यह मंजूर करना चाहिये कि मातृभाषा के अपने सारे प्रेम के बावजूद आज भी मैं यह नहीं जानता कि ज्यामेट्री, अलजबरा आदि की पारिभाषिक बातों को गुजराती में क्या कहते हैं ? हाँ, यह अब मैं ज़रूर देखता हूं कि जितना रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, अगर अंग्रेज़ी के बजाय गुजराती में मैंने उन्हें पढ़ा होता, तो उतना मैंने एक ही साल में आसानी से सीख लिया होता। उस हालत में मैं आसानी और स्पष्टता के साथ इन विषयों को समझ लेता। गुजराती का मेरा शब्द-ज्ञान कहीं समृद्ध हो गया होता और उस ज्ञान का मैंने अपने घर में उपयोग किया होता। लेकिन इस अंग्रेज़ी के माध्यम ने तो मेरे और मेरे कुटुम्बियों के बीच, जो कि अंग्रेज़ी स्कूलों में नहीं पढ़े थे, एक अगम्य

खाड़ी करदी। मेरे पिता को यह कुछ पता नहीं था कि मैं क्या कर रहा हूं? मैं चाहता तो भी अपने पिता की इस बात में दिलचस्पी पैदा नहीं कर सकता था कि मैं क्या पढ़ रहा हूं? क्योंकि यद्यपि बुद्धि की उनमें कोई कमी नहीं थी, मगर वह अंगरेज़ी नहीं जानते थे। इस प्रकार अपने ही घर में मैं बड़ी तेजी के साथ अजनबी बनता जा रहा था। निश्चय ही मैं औरों से ऊँचा आदमी बन गया था; यहाँ तक कि मेरी पोशाक भी अपने आप बदलने लगी। लेकिन मेरा जो हाल हुआ वह कोई असाधारण अनुभव नहीं था बल्कि अधिकांश का यही हाल होता है।

हाईस्कूल के प्रथम तीन वर्षों में मेरे सामान्य ज्ञान में बहुत कम वृद्धि हुई। यह समय तो लड़कों को हरेक चीज़ अंग्रेजी के जरिये सीखने की तैयारी का था। हाईस्कूल तो अंग्रेजों की सांस्कृतिक विजय के लिये थी। मेरे हाईस्कूल के तीन सौ विद्यार्थियों ने जो ज्ञान प्राप्त किया वह तो हमीं तक सीमित रहा, वह सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए नहीं था।

एक दो शब्द साहित्य के बारे में भी। अंग्रेजी गद्य और पद्य की हमें कई किताबें पढ़नी पड़ी थीं। इसमें शक नहीं कि यह सब बढ़िया साहित्य था। लेकिन सर्वसाधारण की सेवा या उसके सम्पर्क में आने में उस ज्ञान का मेरे लिए कोई उपयोग नहीं हुआ है। मैं यह कहने में असमर्थ हूँ कि मैंने अंग्रेजी गद्य न पढ़ा होता तो मैं एक बेश कीमत खजाने से वंचित रह जाता। इसके बजाय, सच तो यह है, कि अगर मैंने सात साल गुजराती पर प्रभुत्व प्राप्त करने में लगाये होते और गणित विज्ञान तथा संस्कृत आदि विषयों को गुजराती में पढ़ा होता तो इस तरह प्राप्त किये हुए ज्ञान में मैंने अपने अड़ोसी-पड़ोसियों को आसानी से हिस्सेदार बनाया होता। उस हालत में मैंने गुजराती साहित्य को समृद्ध

किया होता, और कौन कह सकता है कि अमल में उतारने की अपनी आदत तथा देश और मातृ-भाषा के प्रति अपने बेहद प्रेम के कारण सर्व साधारण की सेवा में मैं और भी अपनी देन क्यों न दे सकता ?

यह हर्गिज न समझना चाहिए कि अंग्रेजी या उसके श्रेष्ठ साहित्य का मैं विरोधी हूं। 'हरिजन' मेरे अंग्रेजी प्रेम का पर्याप्त प्रमाण है। लेकिन उसके साहित्य की महत्ता भारतीय राष्ट्र के लिये उससे अधिक उपयोगी नहीं जितना कि इंग्लैंड के लिए उसका समशीतोष्ण जल वायु या वहाँ के सुन्दर दृश्य हैं। भारत को तो अपने ही जलवायु, दृश्यों और साहित्य में तरक्की करनी होगी, फिर चाहे ये अंग्रेजी जल-वायु, दृश्यों और साहित्य से घटिया दर्जे के ही क्यों न हों। हमें और हमारे बच्चों को तो अपनी खुद की विरासत बनानी चाहिये। अगर हम दूसरों की विरासत लेंगे तो अपनी नष्ट हो जायगी। सच तो यह है कि विदेशी सामग्री पर हम कभी उन्नति नहीं कर सकते। मैं तो चाहता हूं कि राष्ट्र अपनी ही भाषा का कोष और इसके लिये संसार की अन्य भाषाओं का कोष भी अपनी ही देशी भाषाओं में सञ्चित करे। रवीन्द्रनाथ की अनुपम कृतियों का सौन्दर्य जानने के लिये मुझे बङ्गाली पढ़ने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि सुन्दर अनुवादों के द्वारा मैं उसे पा लेता हूँ। इसी तरह टाल्सटाय की संक्षिप्त कहानियों की कद्र करने के लिये गुजराती लड़के-लड़कियों को रूसी भाषा पढ़ने की कोई ज़रूरत नहीं, क्योंकि अच्छे अनुवादों के जरिये वे उसे पढ़ लेते हैं। अंग्रेज़ों को इस बात का फ़ख्र है कि संसार की सर्वोत्तम साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होने के एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर सरल अंग्रेजी में उनके हाथों में पहुँचती हैं। ऐसी हालत में शेक्सपीयर और मिल्टन के सर्वोत्तम विचारों और रचनाओं के लिये मुझे अंग्रेजी पढ़ने की जरूरत क्यों हो ?

यह एक तरह की अच्छी मितव्ययता होगी कि ऐसे विद्यार्थियों का अलग ही एक वर्ग कर दिया जाय, जिनका यह काम हो कि संसार की विभिन्न भाषाओं में पढ़ने लायक जो सर्वोत्तम सामग्री हो, उसको पढ़ें और देशी भाषाओं में उसका अनुवाद करें। हमारे प्रभुओं ने तो हमारे लिये ग़लत ही रास्ता चुना है और आदत पड़ जाने के कारण ग़लती ही हमें ठीक मालूम पड़ने लगी है।

हमारी इस झूठी अभारतीय शिक्षा से लाखों भारतीयों का दिन-दिन जो नुकसान हो रहा है, उसके तो रोज़ ही मैं प्रमाण पा रहा हूँ। जो ग्रेजुएट मेरे आदरणीय साथी हैं, उन्हें जब अपने आन्तरिक विचारों को व्यक्त करना पड़ता है, तो वही खुद परेशान हो जाते हैं। वे तो अपने ही घरों में अजनबी हैं। अपनी मातृभाषा के शब्दों का उनका ज्ञान इतना सीमित है कि अंग्रेज़ी शब्दों और वाक्यों तक का सहारा लिये बग़ैर वे अपने भाषण को समाप्त नहीं कर सकते। न अंग्रेज़ी किताबों के बग़ैर वे रह सकते हैं। आपस में भी वे अंग्रेज़ी में लिखा-पढ़ी करते हैं। अपने साथियों का उदाहरण मैं यह बताने के लिये दे रहा हूँ कि इस बुराई ने कितनी गहरी जड़ जमा ली है, क्योंकि हम लोगों ने अपने को सुधारने का खुद जान-बूझ कर प्रयत्न किया है।

हमारे कॉलेजों में जो यह समय की बरबादी होती है, उसके पक्ष में दलील यह दी जाती है कि कॉलेजों में पढ़ने के कारण इतने विद्यार्थियों में से अगर एक जगदीश बोस भी पैदा हो सके, तो हमें इस बर्बादी की चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं। अगर यह बर्बादी अनिवार्य होती, तो मैं भी ज़रूर इस दलील का समर्थन करता। लेकिन मैं आशा करता हूँ कि मैंने यह बतला दिया है कि यह न तो अनिवार्य थी और यह न अभी ही अनिवार्य है, क्योंकि जगदीश बोस कोई वर्तमान शिक्षा की उपज नहीं थे। वह तो भयङ्कर कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद अपने परिश्रम

की बदौलत ऊँचे उठे और उनका ज्ञान लगभग ऐसा बन गया, जो सर्वसाधारण तक नहीं पहुँच सकता। बल्कि मालूम ऐसा पड़ता है कि हम यह सोचने लगे हैं कि जब तक कोई अंग्रेज़ी न जाने, तब तक वह बोस के सदृश्य महान् वैज्ञानिक होने की आशा नहीं कर सकता। यह ऐसी मिथ्या धारणा है, जिससे अधिक की मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। जिस तरह हम अपने को लाचार समझते मालूम पड़ते हैं, उस तरह एक भी जापानी अपने को नहीं समझता।

यह बुराई, जिसका कि वर्णन करने की मैंने कोशिश की है, इतनी गहरी पैठी हुई है कि कोई साहसपूर्ण उपाय ग्रहण किये बिना काम नहीं चल सकता। हाँ, कांग्रेसी मंत्री चाहें, तो इस बुराई को दूर न भी कर सकें तो इसे कम तो कर ही सकते हैं।

विश्वविद्यालयों को स्वावलम्बी ज़रूर बनाना चाहिए। राज्य को तो साधारणतः उन्हीं की शिक्षा देनी चाहिये, जिनकी सेवाओं की उसे आवश्यकता हो। अन्य सब दिशाओं के अध्ययन के लिये उसे खानगी प्रयत्न को प्रोत्साहन देना चाहिये। शिक्षा का माध्यम तो एक दम और हर हालत में बदला जाना चाहिये और प्रान्तीय भाषाओं को उनका वाजिब स्थान मिलना चाहिये। यह जो क़ाबिले सज़ा बर्बादी रोज-ब-रोज हो रही है, इसके बजाय तो अस्थायी रूप से अव्यवस्था हो जाना भी मैं पसन्द करूँगा।

प्रान्तीय भाषाओं का दरजा और व्यावहारिक मूल्य बढ़ाने के लिये मैं चाहूँगा कि अदालतों की कार्रवाई अपने अपने प्रांत की भाषाओं में हो। प्रान्तीय धारा सभाओं की कार्रवाई भी प्रान्तीय भाषा या जहां एक से अधिक भाषाएँ प्रचलित हों, उनमें होनी चाहिए। धारा सभाओं के सदस्यों को मैं कहना चाहता हूँ कि वे चाहें तो एक महीने के अन्दर अन्दर अपने प्रांतों की भाषाएँ भली भाँति समझ सकते हैं। तामिल

भाषी के लिये ऐसी कोई रुकावट नहीं जो वह तेलगू; मलयालम और कन्नड़ के जो कि सब तामिल से मिलती जुलती हुई ही हैं, मामूली व्याकरण और कुछ सौ शब्दों को आसानी से न सीख सके।

मेरी सम्मति में यह कोई ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका निर्णय साहित्यज्ञों के द्वारा हो। वे इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि किस स्थान के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई किस भाषा में हो। क्योंकि इस प्रश्न का निर्णय तो हरेक स्वतंत्र देश में पहले ही हो चुका है। न वे यही निर्णय कर सकते हैं कि किन विषयों की पढ़ाई हो, क्योंकि यह उस देश की आवश्यकताओं पर निर्भर करता है, जिस देश के बालकों की पढ़ाई होती है। उन्हें तो बस यही सुविधा प्राप्त है कि राष्ट्र की इच्छा को यथा सम्भव सर्वोत्तम रूप में अमल में लायें, अत: हमारा देश जब वस्तुत: स्वतंत्र होगा तब शिक्षा के माध्यम का प्रश्न केवल एक ही तरह से हल होगा। साहित्यिक लोग पाठ्य क्रम बनायेंगे और फिर उसके अनुसार पाठ्य पुस्तकें तैयार करेंगे और स्वतंत्र भारत की शिक्षा पाने वाले विदेशी शासकों को करारा जवाब देंगे। जब तक हम शिक्षित वर्ग इस प्रश्न के साथ खेलवाड़ करते रहेंगे, मुझे इस बात का बहुत भय है कि हम जिस स्वतंत्र और स्वस्थ भारत का स्वप्न देखते हैं, उसका निर्माण नहीं कर पायेंगे। हमें तो सतत प्रयत्न पूर्वक अपनी गुलामी से मुक्त होना है, फिर वह चाहे शिक्षणात्मक हो या आर्थिक, अथवा सामाजिक या राजनैतिक। तीन चौथाई लड़ाई तो वही प्रयत्न होगा जो कि उसके लिए किया जायगा।

इस प्रकार, मैं इस बात का दावा करता हूँ कि मैं उच्च शिक्षा का विरोधी नहीं हूं। लेकिन उस उच्च शिक्षा का मैं विरोधी जरूर हूं जो कि इस देश में दी जा रही है। मेरी योजना के अन्दर तो अब से अधिक और अच्छे पुस्तकालय होंगे, अधिक संख्या में और अच्छी

रसायनशाला में और प्रयोगशालाएँ होंगी। उसके अन्तर्गत हमारे पास ऐसे रसायन शास्त्रियों, इञ्जीनियरों तथा अन्य विशेषज्ञों की फौज की फौज होनी चाहिए जो राष्ट्र के सच्चे सेवक हों और उस प्रजा की बढ़ती हुई विविध आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, जो अपने अधिकारों और अपनी आवश्यकताओं को दिन दिन अधिकाधिक अनुभव करती जा रही हैं, और ये सब विशेषज्ञ विदेशी भाषा नहीं बल्कि जनता की ही भाषा बोलेंगे। ये लोग जो ज्ञान प्राप्त करेंगे, वह सब की संयुक्त सम्पत्ति होगी। तब खाली नकल की जगह सच्चा असली काम होगा, और उसका खर्च न्याय पूर्वक समान रूप से विभाजित होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्

१—शिक्षा की वर्तमान पद्धति किसी भी तरह देश की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकती। उच्च शिक्षा की तमाम शाखाओं में अंग्रेजी भाषा को माध्यम बना देने के कारण, उसने उच्च शिक्षा पाये हुए मुट्ठी भर लोगों तथा अपढ़ जन समुदाय से जन साधारण तक छन छन कर ज्ञान में जाने में बड़ी रुकावट पड़ गयी है। अंग्रेजी को इस तरह अधिक महत्त्व देने के कारण शिक्षित लोगों पर इतना अधिक भार पड़ गया है कि प्रत्यक्ष जीवन के लिए उनकी मानसिक शक्तियाँ पंगु हो गयी हैं और वे अपने ही देश में विदेशियों के भांति बेगाने बन गये हैं। धन्धों के शिक्षण के अभाव ने शिक्षितों को उत्पादक काम के सर्वथा अयोग्य बना दिया है और शारीरिक दृष्टि से भी उनका बड़ा नुकसान हो रहा है। प्राथमिक शिक्षा पर आज जो खर्च हो रहा है, वह बिलकुल निरर्थक है, क्योंकि जो कुछ भी सिखाया जाता है, उसे पढ़ने वाले बहुत जल्दी भूल जाते हैं और शहरों तथा गाँवों की दृष्टि

से उनका दो कौड़ी का भी मूल्य नहीं है। वर्तमान शिक्षा पद्धति से जो कुछ भी लाभ होता है, उससे देश का प्रधान कर दाता तो वंचित ही रहता है। उसके बच्चों के पल्ले तकरीबन कुछ नहीं आता।

२—प्राथमिक शिक्षा का पाठ्य क्रम कम-से-कम सात साल का हो। इसमें बच्चों को इतना सामान्य ज्ञान मिल जाना चाहिए, जो उन्हें साधारणतया मैट्रिक तक की शिक्षा में मिल जाता है। इसमें अंग्रेजी नहीं रहेगी। उसकी जगह कोई एक अच्छा सा धंधा सिखाया जाय।

३—इसलिए कि लड़कों और लड़कियों का सर्वतोमुखी विकास हो, सारी शिक्षा जहाँ तक हो सके एक ऐसे धन्धे द्वारा दी जानी चाहिए, जिसमें कुछ उपार्जन भी हो सके। इसे यों भी कह सकते हैं कि इस धंधे द्वारा दो हेतु सिद्ध होने चाहिए—एक तो विद्यार्थी उस धंधे की उपज और अपने परिश्रम से अपनी पढ़ाई का खर्चा अदा कर सके, और साथ ही स्कूल में सीखे हुए इस धन्धे के द्वारा उस लड़के या लड़की में उन सभी गुणों और शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाय, जो एक पुरुष व स्त्री के लिए आवश्यक है।

पाठशाला की जमीन, इमारतें और दूसरे जरूरी सामान का खर्च विद्यार्थी के परिश्रम से निकालने की कल्पना नहीं की गयी है।

कपास, रेशम और ऊन की चुनाई से लेकर सफाई, (कपास की लुढ़ाई, पिंजाई, कताई, रंगाई; माँड़ लगाना, ताना तानाना, दो सूती करना, डिजाइन (नमूना) बनाना तथा बुनाई कसीदा काढ़ना, सिलाई आदि तमाम क्रियाएँ, कागज़ बनाना, कागज़ काटना, जिल्द साजी, आलमारी फर्नीचर वगैरा तैयार करना, खिलौने बनाना, गुड़ बनाना, इत्यादि निश्चित धन्धे हैं, जिन्हें आसानी से सीखा जा सकता है और जिनके करने के लिए बड़ी पूंजी की भी जरूरत नहीं होती।

इस प्रकार की प्राथमिक शिक्षा से लड़के और लड़कियाँ इस लायक हो जांय कि वे अपनी रोज़ी कमा सकें। इसके लिए यह जरूरी

है कि जिन धन्धों की शिक्षा उन्हें दी गई हो, उसमें राज्य उन्हें काम दे। अथवा राज्य द्वारा मुकर्रर की गयी कीमतों पर सरकार उनकी बनाई हुई चीज़ों को खरीद लिया करे।

उच्च शिक्षा को खानगी प्रयत्नों तथा राष्ट्र की आवश्यकता पर छोड़ दिया जाय। इसमें कई प्रकार के उद्योग और उनसे सम्बन्ध रखने वाली कलाएँ, साहित्य शास्त्रादि तथा संगीत, चित्रकला आदि शामिल समझे जायँ।

विश्व विद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्थाएँ रहें और वे अपना खर्चा परीक्षा शुल्क से ही निकाल लिया करें।

विश्व-विद्यालय शिक्षा के समस्त क्षेत्र का ध्यान रखें और उसके अनेक विभागों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करें और उसे स्वीकृति दें। किसी विषय की शिक्षा देने वाला तब तक एक भी स्कूल नहीं खोलेगा, जब तक कि वह इसके लिए अपने विषय से सम्बन्ध रखने वाले विश्व-विद्यालय से मंजूरी नहीं हासिल कर लेगा। विश्व विद्यालय खोलने की इजाज़त सुयोग्य और प्रामाणिक किसी भी ऐसी संस्था को उदारता पूर्वक दी जा सकती है, जिसके सदस्यों की योग्यता और प्रामाणिकता के विषय में कोई सन्देह न हो। हाँ, यह सबको बता दिया जाय कि राज्य पर उसका ज़रा भी खर्च नहीं पड़ना चाहिए, सिवा इसके की वह केवल एक केन्द्रीय शिक्षा विभाग का खर्च उठायगा।

राज्य की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी खास प्रकार की शिक्षा—संस्था या विद्यालय खोलने की जरूरत उसे पड़ जाय, तो यह योजना राज्य को इस जिम्मेवारी से मुक्त नहीं कर रही है।

अगर यह सारी योजना स्वीकृत हो जाय, तो मेरा यह दावा है कि हमारी एक सबसे बड़ी समस्या—राज्य के युवकों को, अपने भावी निर्माताओं को तैयार करने की हल हो जायगी।

विदेशी माध्यम का अभिशाप

रियासत हैदराबाद के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष नवाब मसूदजङ्ग बहादुर ने कर्वे महिला विद्यापीठ में, हाल में ही, देशी भाषाओं के जरिये ही शिक्षा देने का बहुत जबर्दस्त समर्थन किया था। इसका जवाब 'टाइम्स आफ इण्डिया' ने दिया है, मुझे, एक मित्र उसका नीचे का उतारा, जवाब देने के लिए भेजते हैं।

"उनके लेखों में जो कुछ मूल्यवान और काम का अंश है, वह पश्चिमीय संस्कृति का ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष फल है।........

साठ क्या बल्कि सौ वर्ष पीछे तक देख सकते हैं कि राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक, किसी हिन्दुस्तानी ने जो कुछ भी किसी दिशा में कोई उल्लेखनीय काम किया है तो वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पश्चिमीय शिक्षा का ही फल है, या था।"

इन उतारों में इस पर विचार नहीं किया गया है कि हिन्दुस्तान में उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी के माध्यम की क्या कीमत है, बल्कि ऊपर लिखे पुरुषों पर पश्चिमीय संस्कृति के प्रभाव पर तथा उनके लिए उस महत्त्व पर विचार किया गया है। न तो नवाब साहब ने और न किसी ने ही पश्चिमीय संस्कृति के महत्त्व या प्रभाव को इनकार किया है। विरोध तो इसका किया जाता है कि पश्चिमीय संस्कृति की वेदी पर पूर्वीय या भारतीय संस्कृति की बलि चढ़ा दी जाय। अगर यह साबित भी किया जा सके कि पश्चिमीय संस्कृति पूर्वीय से ऊंची है, तो भी कुल मिलाकर भारत वर्ष के लिए यह हानिकर ही होगा कि उसके अत्यन्त होनहार पुत्र और पुत्रियाँ पश्चिमीय संस्कृति में पाली जायँ और उन्हें अराष्ट्रीय बनाकर, अपने साधारण लोगों से उनका सम्बन्ध तोड़ दिया जाय।

मेरी राय में ऊपर लिखे हुए पुरुषों का प्रजा पर जो कुछ कि अच्छा प्रभाव पड़ा उसका मुख्य कारण यह था कि पश्चिमीय संस्कृति का विरोधी दबाव होते हुए भी वे अपने में कुछ न कुछ पूर्वीय संस्कृति को बचाए रख सके थे, इस सम्बन्ध में, इस अर्थ में कि पूर्वीय संस्कृति की अच्छी से अच्छी बातें उनमें पूरी पूरी खिल न सकीं, उन पर अपना प्रभाव पूरा पूरा डाल न सकीं, पश्चिमीय संस्कृति को विरोधिनी या हानिकारक समझता हूँ। अपने बारे में तो, जब कि मैंने पश्चिमीय संस्कृति का ऋण भली भांति स्वीकार किया है, यह कह सकता हूँ कि जो कुछ राष्ट्र की सेवा मैं कर सका हूं उसका एक मात्र कारण यह है, कि जहाँ तक मेरे लिए सम्भव हो सका है, वहाँ तक मैंने पूर्वीय संस्कृति अपने में बचायी है। अंग्रेजी बना हुआ, अराष्ट्रीय रूप में तो मैं जनता के लिए उनके बारे में कुछ भी नहीं जानता हुआ, उनके तौर तरीकों की कुछ भी पर्वाह न करता हुआ, शायद उनके ढंग, आदतों और अभिलाषाओं से घृणा भी करता हुआ, उनके लिए बिल्कुल ही बेकार होता। आज राष्ट्र के इतने लड़कों के अपनी संस्कृति में रूढ़ि हो जाने के पहले ही, पश्चिमीय संस्कृति के तो अपने स्थान पर ही जितनी भली क्यों न हो, मगर यहाँ तो, दबाव से छूटने के प्रयत्नों में जाया जाने वाली राष्ट्रीय शक्ति के माप का अनुमान लगाना कठिन है।

जरा इस प्रश्न को हम तोड़कर विचार करें। क्या, चैतन्य, नानक, कबीर, तुलसीदास या कई दूसरे ऐसे ही लोगों ने जो काम किया है, उससे वे अच्छा कर सकते थे। अगर वे अपने बचपन से ही किसी अत्यन्त सुव्यवस्थित अँग्रेजी शाला में भर्ती कर दिए गये होते? क्या इस लेख में उल्लिखित पुरुषों ने इन महान् सुधारकों से ज्यादा अच्छा काम किया है? दयानन्द और अच्छा काम कर लेते? इन आरम्भ तक्षक अंग्रेजीदाँ राजाओं, महाराजाओं में, जो अपने बचपन से ही

पश्चिमीय संस्कृति के प्रभाव में रखकर पाले गये हैं, कौन सा ऐसा है जिसका नाम शिवाजी के साथ एक साँस में लिया जा सके। जिन्होंने अपने कष्ट-सहिष्णु आदमियों के साथ उनके ख़तरों और उनके कष्ट के जीवन में उनका दुख बँटाया? क्या वे निर्भय प्रताप से अच्छे शासक हैं? क्या वे बहादुर लोग पश्चिमीय संस्कृति के भी अच्छे नमूने हैं, जब कि ये पेरिस या लन्दन में बैठे लानारीरी कर मजे उड़ाते रहते हैं और इधर इनके राज्यों में आग लगी हुई है? इनकी संस्कृति में गर्व करने की कोई बात नहीं है कि ये अपने ही देश में विदेशी बन गये हैं और अपनी जिस प्रजा पर शासन करने के लिये नियति ने बैठाया है, उसके सुख दुखों में शामिल होने के बदले ये उसका धन और अपनी आत्माएँ यौरप में नष्ट किया करते हैं।

मगर प्रश्न तो पश्चिमीय संस्कृति का नहीं है। सवाल यह है कि किस भाषा के जरिये शिक्षा दी जाय? अगर यह बात न होती कि हमें जो थोड़ी सी उच्च शिक्षा मिली है, वह अंग्रेज़ी के ही द्वारा मिली है तो ऐसी स्वयंसिद्ध बात को सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं होती कि किसी देश के बच्चों को, अपनी राष्ट्रीयता बनाये रखने के लिये अपनी ही स्वदेशी भाषा या भाषाओं के जरिये ऊँची से ऊँची सभी शिक्षाएं मिलनी चाहिएँ। निश्चय ही यह तो स्वयं स्पष्ट है कि किसी देश के युवक वहाँ की प्रजा से न तो जीवन-सम्बन्ध पैदा कर सकते हैं और न क़ायम ही रख सकते हैं, जब तक कि वे ऐसी ही भाषा के जरिये शिक्षा पाकर उसे अपने में जज्ब न करलें, जिसे प्रजा समझ सके। आज इस देश के हज़ारों नवयुवक एक ऐसी विदेशी भाषा और उसके मुहावरों को सीखने में जो उनके दैनिक जीवन के लिये बिलकुल बेकार हैं और जिसे सीखने में उन्हें अपनी मातृभाषा या उसके साहित्य की उपेक्षा करनी पड़ती है, [illegible] नष्ट करने को लाचार किये जाते हैं। [illegible]

बेहिसाब हानि का अन्दाजा कौन लगा सकता है? इससे बढ़कर कोई वहम पहले था ही नहीं, कि अमुक भाषा का विस्तार हो ही नहीं सकता या उसके जरिये गूढ़ या वैज्ञानिक बातें समझाई ही नहीं जा सकतीं। भाषा तो अपने बोलने वालों के चरित्र तथा विकास की सच्ची छाया है।

विदेशी शासन के कई दोषों में से देश के बच्चों पर विदेशी भाषा का मारक छाया डालना सबसे बड़े दोषों में से एक गिना जायगा। इसने राष्ट्र की शक्ति हर ली है, विद्यार्थियों की आयु घटा दी है, उन्हें प्रजा से दूर कर दिया है और बे ज़रूरत ही शिक्षा ख़र्चीली कर दी है। अगर यह क्रिया अब भी जारी रही, तो जान पड़ता है कि यह राष्ट्र की आत्मा को नष्ट कर देगी। इसलिये जितनी जल्दी शिक्षित भारतवर्ष विदेशी माध्यम के वशीकरण से निकल जाय, प्रजा को तथा उसको उतना ही लाभ होगा।

वर्धा शिक्षा-पद्धति

उन्होंने कहा कि, "मैंने जो प्रस्ताव विचारार्थ रखे हैं, उनमें प्राइमरी शिक्षा और कॉलेज की शिक्षा दोनों का ही निर्देश है, पर आप लोग तो अधिकतर प्राथमिक शिक्षा के बारे में ही अपने ही विचार ज़ाहिर करें। माध्यमिक शिक्षा को मैंने प्राथमिक शिक्षा में शामिल कर लिया है, क्योंकि प्राथमिक कही जाने वाली शिक्षा हमारे गाँवों के बहुत ही थोड़े लोगों को मुयस्सर है। मैं महज गाँवों के ही इन लड़कों और लड़कियों की ज़रूरतों के बारे में कह रहा हूँ, जिनका कि बहुत बड़ा भाग बिलकुल निरक्षर है। मुझे कॉलेज की शिक्षा का अनुभव नहीं है, हालांकि कॉलेज के हजारों लड़कों के सम्पर्क में मैं आया हूँ, उनके साथ दिल खोलकर बातें की हैं और खूब पत्र-व्यवहार भी हुआ है। उनकी आवश्यकताओं को, उनकी नाकामयाबियों को और उनकी तकलीफ़ों

को मैं जानता हूं। पर अच्छा हो कि आप अपने को प्राथमिक शिक्षा तक ही महदूद रखें। कारण यह है कि मुख्य प्रश्न के हल होते ही कालेज की शिक्षा का गौड़ प्रश्न भी हल हो जायगा।

"मैंने खूब सोच समझ कर यह राय कायम की है कि प्राथमिक शिक्षा की यह मौजूदा प्रणाली न केवल धन और समय का अपव्यय करने वाली है, बल्कि नुकसान कारक भी है। अधिकांश लड़के अपने माँ बाप के तथा अपने खानदानी पेशे धंधे के काम के नहीं रहते, वे बुरी बुरी आदतें सीख लेते हैं, शहरी तौर तरीकों के रंग में रंग जाते हैं और थोड़ी सी ऊपरी बातों की जानकारी ही उन्हें हासिल होती है, जिसे और चाहे जो नाम दिया जाय, पर जिसे शिक्षा नहीं कहा जा सकता। इसका इलाज मेरे ख्याल में, यह है कि उन्हें औद्योगिक और दस्तकारी की तालीम के जरिये शिक्षा दी जाय। मुझे इस प्रकार की शिक्षा का कुछ जाति अनुभव है। मैंने दक्षिण अफ्रीका में खुद अपने लड़कों को और दूसरे हर जाति और धर्म के बच्चों को टालसटाय फार्म में किसी न किसी दस्तकारी द्वारा इस प्रकार की तालीम दी थी। जैसे बढ़ईगीरी या जूते बनाने का काम सिखाया था, जिसे कि मैंने केलनबेक से सीखा था और केलनबेक ने एक ट्रैपीस्ट मठ में जाकर इस हुनर की शिक्षा प्राप्त की थी। मेरे लड़कों ने और उन सब बच्चों ने मुझे विश्वास है, कुछ गँवाया नहीं है, यद्यपि मैं उन्हें ऐसी शिक्षा नहीं दे सका। जिससे कि खुद मुझे या उन्हें सन्तोष हुआ हो। क्योंकि समय मेरे पास बहुत कम रहता था, और काम इतने अधिक रहते थे कि जिनका कोई शुमार नहीं।

दस्तकारी की तालीम द्वारा शिक्षण

"मैं असल जोर धंधे या उद्यम पर नहीं, किन्तु हाथ उद्योग द्वारा शिक्षण पर दे रहा हूँ—साहित्य, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान

इत्यादि सभी विषयों की शिक्षा पर। शायद इस पर यह आपत्ति उठाई जाय कि माध्यमिक युगों में तो ऐसी कोई चीज़ नहीं सिखाई जाती थी मगर पेशे धंधे की तालीम तब ऐसी होती थी कि उससे कोई शैक्षणिक मतलब नहीं निकलता था। इस युग में यह दशा हुई कि लोग उन पेशों को जो उनके घरों में होते थे भूल गये हैं। पढ़ लिख कर क्लर्की का काम हाथ में ले लिया है और उस तरह वे आज देहाती के काम के नहीं रहे हैं। नतीजा इसका यह हुआ कि किसी भी औसत दर्जे के गाँव में हम जांय तो वहां अच्छे निपुण बढ़ई या लुहार का मिलना असंभव हो गया है। दस्तकारियां करीब--करीब अदृश्य हो गयी हैं और कताई का उद्योग जो उपेक्षा की नजर से देखा जा रहा था लङ्काशायर चला गया, जहाँ कि उसका विकास हुआ, धन्यवाद है अँगरेज़ों की कमाल की प्रतिभा को कि हुनर उद्योगों को उन्होंने आज किस हद तक विकसित कर दिया है। पर मैं जो यह कहता हूं इसका मेरे उद्योगी करण सम्बन्धी विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं।

इलाज इसका यह है कि हर एक दस्तकारी की कला और विज्ञान को व्यावहारिक शिक्षण द्वारा सिखाया जाय और फिर उस व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा शिक्षा दी जाय। उदाहरण के लिये तकली पर की कताई कला को ही ले लीजिये। इसके द्वारा कपास की मुख़्तलिफ किस्मों का और हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्त की किस्म--किस्म की जमीनों का ज्ञान दिया जा सकता है। वस्त्र उद्योग हमारे देश में किस तरह नष्ट हुआ इसका इतिहास हम अपने बच्चों को बता सकते हैं, इसके राजनीतिक कारणों को बतायेंगे तो भारत में अँगरेज़ी राज्य का इतिहास भी आ जायगा। गणित इत्यादि की भी शिक्षा इसके द्वारा उन्हें दी जा सकती है। मैं अपने छोटे पोते पर इसका प्रयोग कर रहा हूँ जो शायद ही यह महसूस करता हो कि उसे कुछ सिखाया जा रहा

है। क्योंकि वह तो हमेशा खेलता कूदता रहता है, और हँसता है और स्कूल जाता है।

तकली

तकली का उदाहरण जो मैंने खास कर दिया है, वह इसलिए कि इसके विषय में आप लोग मुझसे सवाल पूछें। क्योंकि मुझे इससे बहुत कुछ काम निकालना है। इसकी शक्ति और इसके अद्भुत पराक्रम को मैंने देखा है और एक कारण यह भी है कि वस्त्र निर्माण की दस्तकारी ही एक ऐसी है जो सब जगह सिखाई जा सकती है, और तकली पर चूंकि कुछ खर्च भी नहीं होता जितनी की आशा की जाती थी, उससे कहीं ज्यादा तकली का मूल्य और महत्व साबित हो चुका है। जहां तक हमने रचनात्मक कार्यक्रम पूरा किया है उसी के परिणाम स्वरूप सात प्रान्तों में ये कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने हैं, और इनकी सफलता उसी हद तक निर्भर करेगी जिस हद तक कि हम अपने रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ायेंगे।

मैंने सोचा है कि अध्ययन-क्रम कम से कम सात साल का रखा जाय। जहाँ तक तकली का सम्बन्ध है, इस मुद्दत में विद्यार्थी बुनाई तक के व्यावहारिक ज्ञान में (जिसमें रंगाई, डिजाइनिंग आदि भी शामिल हैं) निपुण हो जायेंगे। कपड़ा जितना हम पैदा कर सकेंगे उसके लिए ग्राहक तो तैयार हैं ही।

मैं इसके लिए बहुत उत्सुक [illegible] दस्तकारी की चीज़ों से शिक्षक का खर्चा निकल [illegible], [illegible]कि मेरा यह विश्वास है कि हमारे देश के करोड़ों बच्चों को तालीम देने का दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है। जब तक कि हमें सरकारी खजाने से आवश्यक

पैसा न मिल जाय, जब तक कि वाइसराय फ़ौजी खर्चे को कम न करदें, या इसी तरह का कोई कारगर ज़रिया न निकल आवे, तब तक हम रास्ता देखते हुए बैठे नहीं रहेंगे। आप लोगों को याद रखना चाहिए कि इस प्राथमिक शिक्षा में, सफाई; आरोग्य और आहार शास्त्र के प्रारंभिक सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। अपना काम आप कर लेने तथा घर पर अपने मां बाप के काम में मदद देने वग़ैरा की शिक्षा भी उन्हें मिल जायगी। वर्तमान पीढ़ी के लड़कों को न सफ़ाई का ज्ञान है, न वे यह जानते हैं कि आत्म निर्भरता क्या चीज़ है और शारीरिक संगठन भी उनका काफ़ी कमजोर है। इसलिए उन्हें मैं लाजिमी तौर पर गाने और बाजे के साथ कवायद वग़ैरा के जरिये शारीरिक व्यायाम की भी तालीम दूंगा। मुझ पर यह दोषारोपण किया जा रहा है कि मैं साहित्यिक शिक्षा के खिलाफ़ हूँ। नहीं, यह बात नहीं है। मैं तो केवल यह तरीका बता रहा हूं, जिस तरीके से कि साहित्यिक शिक्षा देनी चाहिए। और मेरे 'स्वावलम्बन' के पहलू पर भी हमला किया गया है। यह कहा गया है कि प्राथमिक शिक्षा पर जहाँ हमें लाखों रुपया खर्च करना चाहिए वहाँ हम उलटे बच्चों से ही उसे वसूल करने जा रहे हैं। साथ ही यह आशंका भी की जाती है कि उस तरह बहुत सी शक्ति व्यर्थ चली जायगी। किन्तु अनुभव ने इस भय को गलत साबित कर दिया है और जहाँ तक बच्चे पर बोझ डालने या उसके शोषण करने का सवाल है, मैं कहूंगा कि बच्चे पर यह बोझ डालना क्या उसे सर्वनाश से बचाने के लिए ही नहीं है? तकली बच्चों के खेलने के लिए एक [illegible] है। [illegible] उत्पादक चीज है, इस लिए [illegible] नहीं है या खिलौने से किसी तरह कम है। आज भी बच्चे किसी हद तक अपने माँ बाप की मदद करते ही हैं। हमारे सेगांव के बच्चे खेती किसानी की बातें

मुझसे कहीं ज्यादा जानते हैं, क्योंकि उन्हें अपने माँ बाप के साथ खेतों पर काम करने जाना पड़ता है। लेकिन जहाँ बच्चे को इस बात का प्रोत्साहन दिया जायगा कि वह काते और खेती के काम में अपने माँ बाप की मदद करे, वहाँ उसे ऐसा भी महसूस कराया जायगा कि बच्चे का सम्बन्ध सिर्फ अपने मां बाप से ही नहीं, बल्कि अपने गाँव और देश से भी है। और उसे उनकी भी कुछ सेवा करनी ही चाहिए। यही एक मात्र तरीका है। मैं मंत्रियों से कहूँगा कि खैरात में शिक्षा देकर तो वे बच्चों को असहाय ही बनायेंगे, लेकिन शिक्षा के लिए उनसे मेहनत करा कर वे उन्हें बहादुर और आत्म विश्वासी बनायेंगे।

यह पद्धति हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी के लिए एकसी होगी। मुझसे पूछा गया है कि मैं धार्मिक शिक्षा पर कोई जोर क्यों नहीं देता? इसका कारण यह है कि मैं उन्हें स्वावलम्बन का धर्म ही तो सिखा रहा हूँ, जो कि धर्म का असली रूप है।

इस तरह जो शिक्षित किए जांय, उन्हें रोजी देने के लिए राज्य बाधित है। और जहाँ तक अध्यापकों का प्रश्न है, प्रोफेसर शाह ने लाजिमी सेवा का उपाय सुझाया है। इटली तथा अन्य देशों के उदाहरण देकर उन्होंने उसका महत्व बताया है। उनका कहना है कि अगर मुसोलिनी इटली के तरुणों को इसके लिए प्रोत्साहित कर सकता है, तो हमें हिन्दुस्तान के तरुणों को प्रोत्साहित क्यों न करना चाहिए? हमारे नौजवानों को अपना रोजगार शुरू करने से पहले एक या दो साल के लिए लाजिमी तौर पर अध्यापन का काम करना पड़े, तो उसे गुलामी क्यों कहा जाय? क्या यह ठीक है! पिछले सत्रह साल में आजादी के हमारे आन्दोलन ने जो सफलता प्राप्त की है, उसमें नौजवानों का हिस्सा कम नहीं है, इसलिए मैं आजादी के साथ उनके जीवन का एक साल राष्ट्र सेवा के लिए अर्पण करने को कह सकता हूँ। इस

सम्बन्ध में कानून बनाने की जरूरत भी हुई, तो वह जबरदस्ती नहीं होगी, क्योंकि हमारे प्रतिनिधियों के बहुमत की रजामन्दी के बगैर वह कभी मंजूर नहीं हो सकता।

इसलिए, मैं उनसे पूछूँगा कि शारीरिक परिश्रम द्वारा दी जाने वाली शिक्षा उन्हें रुचती है या नहीं? मेरे लिए तो इसे स्वावलम्बी बनाना ही इसकी उपयुक्त कसौटी होगी। सात साल के अन्त में बालकों को ऐसा तो हो ही जाना चाहिए कि अपनी शिक्षा का खर्च खुद उठा सकें और परिवार में अनकमाऊ पूत न रहें।

कॉलेज की शिक्षा ज्यादातर शहरी है। यह तो मैं नहीं कहूंगा कि यह भी प्राथमिक शिक्षा की तरह बिलकुल असफल रही है लेकिन इसका जो परिणाम हमारे सामने है, वह काफ़ी निराशाजनक है। नहीं तो, कोई ग्रेजुएट भला बेकार क्यों रहे?

तकली को मैंने निश्चित उदाहरण के रूप में सुझाया है, क्योंकि विनोबा को इसका सबसे ज्यादा व्यावहारिक ज्ञान है और इस बारे में कोई एतराज हो तो उनका जवाब देने के लिए वह यहाँ मौजूद हैं। काका साहब भी इस बारे में कुछ कह सकेंगे, हालाँकि उनका अनुभव व्यावहारिक की अपेक्षा सैद्धान्तिक अधिक है। उन्होंने आर्म स्ट्रांग की लिखी हुई (Education for life) पुस्तक पर, और उसमें भी खास कर 'हाथ की शिक्षा' वाले अध्याय पर खास तौर से मेरा ध्यान खींचा है। स्वर्गीय मधुसूदन दास थे तो वकील, लेकिन उनका यह विश्वास था कि अगर हम अपने हाथ पैरों से काम न लें, तो हमारा दिमाग़ कुन्द पड़ जायगा और अगर उसने काम किया भी तो शैतान का ही घर बनेगा। टाल्सटाय ने भी अपनी बहुत सी कहानियों के द्वारा यही बात सिखाई है।"

भाषण के अंत में गांधी जी ने स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा की अपनी योजना की मूल बातों पर उपस्थित जनों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने कहा— "हमारे यहां साम्प्रदायिक दंगे हुआ ही करते हैं, लेकिन यह कोई हमारी ही खासियत नहीं है। इंगलैंड में भी ऐसी लड़ाइयाँ हो चुकी हैं और आज ब्रिटिश साम्राज्यवाद सारे संसार का शत्रु हो रहा है। अगर हम साम्प्रदायिक और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को बंद करना चाहें, तो हमारे लिये यह जरूरी है कि जिस शिक्षा का मैंने प्रतिपादन किया है, उससे अपने बालकों को शिक्षित करके शुद्ध और दृढ़ आधार के साथ इसकी शुरूआत करें। अहिंसा से इस योजना की उत्पत्ति हुई है। सम्पूर्ण मद्य निषेध के राष्ट्रीय निश्चय के सिलसिले में मैंने इसे सुझाया है, लेकिन मैं कहता हूँ कि अगर आमदनी में कोई कमी न हो और हमारा खजाना भरा हुआ हो, तो भी अगर हम अपने बालकों को शहरी न बनाना चाहें तो यह शिक्षा बड़ी उपयोगी होगी, हमें तो उनको अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने देश की सच्ची प्रतिभा का प्रतिनिधि बनाना है और यह उन्हें स्वावलम्बी प्राथमिक शिक्षा देने से ही हो सकता है। योरोप का उदाहरण हमारे लिये कोई उदाहरण नहीं है। क्योंकि वह हिंसा में विश्वास करता है और इसलिये उसकी सब योजनाओं और उसके कार्य-क्रमों का आधार भी हिंसा पर ही रहता है। रूस ने जो सफलता हासिल की है, उसको मैं कम महत्वपूर्ण नहीं समझता, लेकिन उसका सारा आधार बल और हिंसा पर ही है। अगर हिन्दुस्तान ने हिंसा के परित्याग का निश्चय किया है, तो उसे जिस अनुशासन में होकर गुजरना पड़ेगा, उसका यह शिक्षा-पद्धति एक खास भाग बन जाती है। हमसे कहा जाता है कि शिक्षा पर इंगलैंड लाखों रुपया खर्च करता है, और यही हाल अमेरिका का भी है, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि यह सब धन प्राप्त होता है शोषण से

ही। उन्होंने शोषण की कला को विज्ञान का रूप दे दिया है, जिससे उनके लिए अपने बालकों को ऐसी मँहगी शिक्षा देना सम्भव हो गया है, जैसा कि आज वे दे रहे हैं। लेकिन हम तो शोषण की बात न तो सोच सकते हैं और न ऐसा करेंगे ही, इसलिए हमारे पास शिक्षा की इस योजना के सिवा, जिसका आधार अहिंसा पर है और कोई मार्ग ही नहीं है।"

दोपहर के बाद कान्फ्रेंस की कार्रवाई शुरू करते हुए गांधीजी ने कुछ आलोचनाओं का जवाब दिया। उन्होंने कहा—"तकली कुछ एक ही उद्योग नहीं है, पर यह एक ही चीज ऐसी जरूर है जो कि सब जगह दाखिल की जा सकती है। यह काम तो मंत्रियों के देखने का है कि किस स्कूल को कौन सा उद्योग अनुकूल पड़ेगा। जिनको यंत्रों का मोह है, उन्हें मैं यह चेतावनी दे देना चाहता हूं कि यंत्रों पर जोर देने से मनुष्यों के यंत्र बन जाने का पूरा पूरा खतरा है। जो यंत्र युग में बसना चाहते हैं उनके लिए तो मेरी योजना व्यर्थ होगी, पर उनसे मैं यह भी कहूँगा कि गावों के लोगों को यंत्रों द्वारा जीवित रखना असंभव है। जिस देश में तीस करोड़ जीवित यंत्र पड़े हुए हैं वहां नये जड़ यंत्र लाने की बात करना निरर्थक है। डा० जाकिर हुसैन ने कहा है कि आदर्श की भूमिका चाहे जैसी हो, फिर भी यह योजना शिक्षा की दृष्टि से पुख्ता है। उनका यह कहना ठीक नहीं। एक बहिन मुझसे मिलने आई थीं। वह कहती थीं कि अमेरिका की प्रोजेक्ट पद्धति और मेरी पद्धति में बहुत बड़ा अंतर है। पर मैं यह नहीं कहता कि मेरी योजना आपके गले न उतरे, तब भी आप उसे स्वीकार कर ही लेंगे, अगर हमारे अपने आदमी आपके साथ काम करें तो इन स्कूलों में से गुलाम नहीं, किन्तु पूरे कारीगर बनके निकलेंगे। लड़कों से चाहे किसी किस्म की मेहनत ली जाय, उसकी कीमत प्रति घंटे दो पैसे जितनी तो होनी

ही चाहिये। पर आप लोगों का मेरे प्रति जो आदर भाव है, जो लिहाज़ है, उसके कारण आप कुछ भी स्वीकार न करें। मैं मौत के दरवाजे पर बैठा हुआ हूँ। कोई भी चीज़ लोगों से स्वीकार कराने का विचार स्वप्न में भी नहीं आता। इस योजना को तो पूर्ण और पुख्ता विचार के बाद ही स्वीकार करना चाहिये, जिससे कि इसे कुछ ही समय में छोड़ न देना पड़े। मैं प्रो० शाह की इस बात से सहमत हूं कि जो राज्य अपने बेकारों के लिए व्यवस्था नहीं कर सकता, उसकी कोई कीमत नहीं। पर उन्हें भीख का टुकड़ा देना यह कोई बेकारी का इलाज नहीं। मैं तो हर एक आदमी को काम दूंगा और उन्हें पैसा नहीं दे सकूंगा तो खुराक दूंगा। ईश्वर ने हमें खाने पीने और मौज उड़ाने के लिये नहीं, बल्कि पसीना बहा कर रोजी कमाने के लिए बनाया है।"

साहित्य जो मैं चाहता हूँ

'हमारा यह साहित्य आखिर किसके लिए है? अहमदाबाद के इन लक्ष्मीपुत्रों के लिए तो हरगिज़ नहीं। उनके पास तो इतना धन पड़ा हुआ है वे विद्वानों को अपने संग्रह में रख सकते हैं और अपने घर पर ही बड़े बड़े ग्रन्थालय रख सकते हैं। पर आप उस गरीब देहाती के लिए क्या निर्माण कर रहे हैं, जो कुएँ पर गन्दी से गन्दी गालियां बकते हुए अपने बैलों को वह भारी चड़स खींचने के लिए आर लगाता है? बरसों पहले मैंने श्री नरसिंह राव से--जो कि मुझे अफसोस है कि इतने बूढ़े और बीमार हैं कि यहाँ तक नहीं आ सकते— कहा था कि वह इस चड़स चलाने वाले के लिए कोई ऐसी सजीव लय या छोटा सा गाना बतावें जिसे वह मस्त होकर गा सके और उन गन्दी गालियों को जिन्हें वह जानता ही नहीं कि ये गालियां हैं, हमेशा के लिए

भूल जाय। वह आदमी कोचरब का रहने वाला था, जहां कि हमारा सत्याग्रह आश्रम शुरू-शुरू में रक्खा गया था। पर कोचरब कोई गाँव थोड़ा ही है, वह तो अहमदाबाद की एक गंदी बस्ती है। अब मेरे पास ऐसे सैकड़ों लोग हैं, जिन्हें ऐसे जानदार साहित्य की जरूरत है। मैं उन्हें कहाँ से दूं? आज कल मैं सेगाँव में रहता हूँ जिसकी आबादी करीब ६०० की है। उनमें मुश्किल से दस बीस आदमी कुल पचास भी नहीं लिख पढ़ सकते हैं। इन दस-बीस आदमियों में से तीन चार भी ऐसे नहीं जो खुद क्या पढ़ रहे हैं, यह समझ सकें। औरतों में तो एक भी पढ़ी लिखी नहीं है। कुल आबादी के तीन चौथाई आदमी हरिजन हैं। मैंने सोचा कि मैं उनके लिए एक छोटा सा पुस्तकालय खोलूं। किताबें तो ऐसी ही होनी चाहिये थीं, जिन्हें वे समझ सकें। इसलिये मैंने दो-तीन लड़कियों से १०-१२ स्कूली किताबें इकट्ठी कीं जो उनके पास यों ही पड़ी हुई थीं। मेरे पास एक वकालत पास नवयुवक है। पर वह तो सारा कानून भूल भुला गया है और उसने अपनी किस्मत मेरे साथ जोड़ दी है। वह हर रोज़ गाँव जाता है और इन किताबों में से पढ़ कर उन लोगों को ऐसी बातें सुनाता रहता है, जिसे वे समझ सकें और हजम भी कर सकें। वह अपने साथ दो-एक अख़बार भी ले जाता है। पर वह उन्हें हमारा अख़बार कैसे समझाये? वे क्या जानें कि स्पेन और रूस क्या हैं और कहाँ हैं? वे भूगोल को क्या जानें? ऐसे लोगों को मैं क्या पढ़ के सुनाऊँ? क्या मैं उन्हें श्री मुन्शी के उपन्यास पढ़ के सुनाऊं? या श्री कृष्णलाल झवेरी का बंगला से उल्था किया हुआ श्रीकृष्ण चरित्र सुनाऊं? किताब तो वह अच्छी है, परन्तु मुझे भय है कि मैं उसे उन अपढ़ लोगों के सामने नहीं रख सकता। उसे आज वे नहीं समझ सकते।

"आपको जानना चाहिये कि सेगाँव के एक लड़के को यहाँ लाने की मेरी बहुत इच्छा होने पर भी मैं उसे नहीं लाया हूँ। वह बेचारा यहाँ क्या करता? वह तो अपने आप को एक दूसरी ही दुनिया में पाता, लेकिन दूसरे देहातियों के साथ २ उसका भी प्रतिनिधि बनकर मैं यहाँ आया हूँ। यही सच्चा प्रतिनिधिक शासन है। किसी दिन मैं कहूँगा कि आप खुद वहाँ मेरे साथ चलिये, तब तक मैं आपका रास्ता साफ़ कर लूं। रास्ते में काँटे ज़रूर हैं, पर मैं यह कोशिश करूँगा कि ये काँटे निरे काँटे न हों, बल्कि उनमें फूल भी हों।"

"आपसे यह कहते हुए मुझे डीन फरार की और उसकी लिखी ईसा की जीवनी की याद आ रही है। अंग्रेजों के राज्य से भले ही मुझे लड़ना पड़े, पर मुझे अंग्रेज़ों और उनकी भाषा से द्वेष नहीं है। सच तो यह है कि मैं उनके साहित्य-भण्डार की दिल से क़द्र करता हूँ। डीन-फरार की किताब अंग्रेजी भाषा की अमूल्य निधि में से एक चीज़ है। आपको पता है कि यह किताब लिखने में उसने कितना परिश्रम किया है? पहले तो ईसामसीह पर अंग्रेज़ी भाषा में जितनी किताबें उसे मिल सकीं, वे सब उसने पढ़ डालीं। फिर वह फिलिस्तीन पहुँचा और बाइबिल में लिखी हर जगह और मुक़ाम को ढूंढ़ने की कोशिश की और फिर इंगलैण्ड से जन-साधारण के लिये श्रद्धा और भक्ति भरे हृदय से ऐसी भाषा में पुस्तक लिखी, जिसे सब समझ सकें। वह डाक्टर जॉनसन की नहीं, बल्कि की डिकन्सन की सीधी-सादी शैली में लिखी हुई है। क्या हमारे यहाँ भी ऐसे लोग हैं, जो फरार की तरह गाँव के लोगों के लिये ऐसी महान कृतियाँ निर्माण कर सकें? हमारे साहित्यिकों की आँखों और दिमाग़ में तो कालिदास, भवभूति तथा अंग्रेजी लेखक घूमा करते हैं और वे नक़ली चीज़ें ही निर्माण करते हैं। मैं चाहता हूँ

कि वे गाँवों में जावें, ग्रामीण जीवन का अध्ययन करें और जीवनदायी साहित्य निर्माण करें।"

"निस्सन्देह आज सुबह प्रदर्शिनी में मैंने जो कुछ देखा, उसे देखकर मुझे बड़ी खुशी और गर्व हो रहा है। गुजरात में मैंने कभी ऐसी प्रदर्शिनी नहीं देखी थी, पर मुझे आपसे यह भी कह देना चाहिये कि मुझे कहीं अपने आप बोलती हुई तसवीर नहीं दिखाई दी। एक कलाकृति को समझाने के लिये किसी कलाकार की मुझे क्यों ज़रूरत पड़नी चाहिये, खुद तसवीर ही मुझसे क्यों न अपनी कहानी कहे? अपना मतलब मैं आपसे और भी साफ़ करदूं। मैंने पोप के कला भवन में क्रुसारोहण करते हुए हजरत ईसा की एक मूर्ति देखी थी। इतनी सुन्दर चीज़ थी वह कि मैं तो मंत्र मुग्ध की तरह देखता ही रह गया। उसे देखे पाँच साल हो गये पर आज भी वह मेरी आँखों के सामने खड़ी हुई है। उसका सौन्दर्य समझाने के लिये वहाँ कोई नहीं था। यहाँ भी बेलूर (मैसूर) में पुराने मन्दिरों में दिवारगिरी पर एक तसवीर देखी, जो खुद ही मुझसे बोलती थी और जिसे समझाने के लिये किसी की ज़रूरत नहीं थी। जो कामदेव के बाणों से अपने आपको बचाने का प्रयत्न कर रही थी और अपनी साड़ी को सम्हाल रही थी। और आख़िर उसने उस पर विजय पा ही तो ली, जो बिच्छू के रूप में उसके पैरों में पड़ा हुआ था। उस ज़हरदार बिच्छू के ज़हर से उसे जो असह्य पीड़ा हो रही थी, उसे मैं उसके चेहरे पर साफ़ साफ़ देख सकता था। कम से कम उस बिच्छू और स्त्री के चित्र का मैंने तो यही अर्थ लगाया, सम्भव है श्री रविशङ्कर रावल कोई दूसरा भी अर्थ बता दें।

"मैं क्या चाहता हूँ, यह बताते हुए घण्टों मैं आपके सामने बोल सकता हूँ। मैं ऐसा साहित्य और ऐसी कला चाहता हूँ, जिसे करोड़ों लोग समझ सकें। तस्वीर का ख़ाका मैं आपको बता चुका हूँ,

तफ़सील से उसे आप पूरा करेंगे। मुझे जो कुछ कहना था, वह कह चुका। इस समय तो मेरा हृदय रो रहा है, लेकिन समय की टक्करों ने उसे पर्याप्त रूप से इतना सख्त बना दिया है कि दिल टुकड़े-टुकड़े होने के अवसरों पर भी विदीर्ण नहीं हो जाता। जब मैं सेगाँव और उसके अस्थि-पञ्जर लोगों का ख्याल करता हूँ, जब मुझे सेगाँव और उसके निवासियों का ख्याल आता है, तब मैं यह कहे बगैर नहीं रह सकता कि हमारा साहित्य बहुत ही शोचनीय स्थिति में है। आचार्य आनन्द-शङ्कर ध्रुव ने मेरे पास चुनी हुई सौ पुस्तकों की एक सूची भेजी थी, लेकिन उनमें एक भी ऐसी नहीं, जो उन लोगों के काम आ सके। बताइये, मैं उनके सामने क्या रक्खूं? और वहाँ की स्त्रियाँ, मुझे आश्चर्य होता है कि मेरे सामने अहमदाबाद की जो बहिनें मौजूद हैं, उनमें और उन (सेगाँव) की स्त्रियों में क्या कोई सम्बन्ध है? सेगाँव की स्त्रियाँ नहीं जानतीं कि साहित्य क्या है? वे तो मेरे साथ 'रामधुन' भी नहीं दोहरा सकतीं। वे तो बस गुलामों की तरह पीसना और काम करना जानती हैं। बिना इस बात की परवा किये कि धूप है या बारिश, साँप है या बिच्छू—वे तो पानी भर लाती हैं, घास काटतीं और लकड़ियाँ चीरती हैं, और मैं उन्हें कुछ पैसे देकर कोई काम कराता हूँ, तो मुझे अपना बड़ा भारी हितैषी समझती हैं। इन मूक बहिनों के पास मैं क्या ले जाऊँ? ऐसे करोड़ों लोग अहमदाबाद में नहीं रहते, बल्कि भारत के गाँवों में रहते हैं। उनके पास क्या ले जाना चाहिये? यह मैं जानता हूँ, पर आपसे कह नहीं सकता। मैं न तो वक्ता हूँ, न लिखना ही मेरा धन्धा है। मैंने तो वही लिखा है, जो मेरे पास था और जिसे प्रगट किये बगैर मैं रह नहीं सकता था। और एक वक्त तो मैं बिल्कुल मूक भी था, यहाँ तक कि जब तक मैंने वकालत शुरू नहीं कर दी तब तक मेरे मित्र मुझे निरा बुद्धू ही कहा करते थे, और अदालतों में भी मुश्किल

से ही मैं होठ खोलकर कुछ बोला था। सच तो यह है कि लिखना या बोलना मेरा काम नहीं है। मेरा तो काम यह है कि उनके बीच रहकर उन्हें बताऊँ कि कैसे रहना चाहिए। स्वराज्य की चाभी शहरों में नहीं, गावों में है। इसलिए मैं वहां जाकर बस गया हूँ– वह गाँव भी मेरा ढूंढ़ा हुआ नहीं है, बल्कि मेरे सामने वह खुद-ब-खुद आ गया है।"

"मैं तो आपसे यह कहना चाहता हूँ कि अगर हमारे साहित्य में 'नवल कथायें और 'नवलिकाये'' न भी हों तो गुजराती साहित्य सूना तो नहीं रहेगा। कल्पना जगत में हम जितना भी कम विचरण करें उतना ही अच्छा है। चालीस साल पहले जब मैं दक्षिण अफ्रिका गया, तो अपने साथ कुछ पुस्तकें भी मैं लेगया था। इनमें टेलर नामक एक अंग्रेज़ का लिखा गुजराती भाषा का व्याकरण भी था। इस पुस्तक ने मानों मुझ पर जादू डाल दिया था, पर अफ़सोस उसे फिर से पढ़ने का मुझे मौका नहीं मिला। जिस रोज मैं यहां इस परिषद् का सभापति बनकर आया, मैंने पुस्तकालय से इस पुस्तक को निकाल कर मँगाया। पर पुस्तक के अन्त में दिये हुए लेखक के कुछ उद्गारों को छोड़कर मैं उसमें से कुछ नहीं पढ़ सका। लेखक के इस अन्तिम वक्तव्य के कुछ शब्द तो मानों मेरे हृदय पर अङ्कित से हो गये। टेलर महोदय भावावेश में आकर लिखते हैं— 'कौन कहता है कि गुजराती दरिद्र या हीन है? गुजराती, संस्कृति की पुत्री, दरिद्र हो ही कैसे सकती है? हीन कैसे हो सकती है? यह दरिद्रता तो भाषा का कोई अपना निजी दोष नहीं। वह तो गुजराती भाषा भाषी लोगों की दरिद्रता है, जो भाषा में प्रतिबिम्बित हो रही है। जैसा बोलने वाला, वैसी उसकी भाषा वह दरिद्रता इन मुट्ठी भर उपन्यासों से कभी दूर की जा सकती है? इसमें हमें क्या लाभ होना है? मैं एक उदाहरण लूँ। हमारी भाषा में

कई "नन्द बत्रीसियाँ" हैं। नहीं, मैं तो आपसे फिर ग्रामों की ओर लौट चलने के लिए कहूँगा और सुनाऊंगा कि मैं क्या चाहता हूँ। ज्योतिष शास्त्र को ही लीजिए। इस विषय में मेरा घोर अज्ञान है। यरवडा जेल में मैंने देखा कि काका साहब रोज रात में नक्षत्रों को देखते रहते हैं और उन्होंने यह शौक मुझे भी लगा दिया। मैंने खगोल की कुछ पुस्तकें और एक दूरबीन भी मंगाई। अंग्रेजी में तो बहुत सी पुस्तकें मिल गईं। पर गुजराती में एक भी पुस्तक नहीं मिली। यों नाम मात्र को एक पुस्तक मेरे पास आई थी। पर वह भी कोई पुस्तक कही जा सकती है? अब बतलाइये, अपने लोगों को, ग्रामवासियों को ज्योतिष शास्त्र पर अच्छी पुस्तकें हम क्यों नहीं दे सकते? पर ज्योतिष की बात छोड़िये। भूगोल की भी काम चलाने लायक पुस्तकें हमारे पास हैं? कम से कम मेरी जान में तो एक भी नहीं है। बात यह है कि हमने अब तक गाँव के लोगों की परवाह ही नहीं की और यद्यपि अपने भोजन के लिए हम उन्हीं पर निर्भर करते हैं, तो भी हम तो अब तक यही समझते आये हैं, मानों हम उनके आश्रयदाता हैं और वे हमारे आश्रित हैं। हमने उनकी ज़रूरतों का कभी ख्याल ही नहीं किया। सारे संसार में यही एक अभागा देश है, जहाँ सारा कारोबार एक विदेशी भाषा के ज़रिये होता है। तब इसमें आश्चर्य ही क्या, अगर हमारी आत्मिक दुर्बलता भाषा में भी प्रगट हो। फ्रेंच या जर्मन भाषा में एक भी ऐसी अच्छी किताब नहीं, जिसका अनुवाद कि उसके प्रकाशन के बाद अंग्रेजी भाषा में न हो गया हो। अंग्रेजी भाषा का प्राचीन काव्य और इतिहास सम्बन्धी साहित्य भी साधारण पढ़े लिखे और बच्चों तक के लिए संक्षिप्त रूप में और सस्ते से सस्ते मूल्य में मिल सके इस तरह सुलभ कर दिया गया है।

क्या हमने इस तरह कुछ किया है? क्षेत्र बड़ा विशाल और अछूता पड़ा हुआ है और मैं चाहता हूं कि हमारे साहित्य-सेवक और

भाषाविद् इस काम में लग जांय। मैं चाहता हूं कि वे गाँवों में जांय, लोगों की नब्ज देखें, उनकी जरूरतों की जांच करें और उन्हें पूरा करें। वर्धा में हमारा एक ग्राम सेवक विद्यालय है, मैंने उसके आचार्य से कहा कि अगर आप बुद्धिमत्ता के साथ ग्रामोद्योगों पर कोई किताब लिखना चाहें तो खुद कुछ ग्रामोद्योग सीख लें। यह कभी न सोचिये कि गाँवों की कुन्द हवा में आपकी बुद्धि अपनी ताजगी खो देगी। मैं तो कहूँगा कि इसका कारण गाँवों का संकुचित वायुमंडल नहीं है। आप खुद ही संकुचित वायुमण्डल लेकर वहाँ जाते हैं। अगर आप वहाँ अपनी आँखें, कान और बुद्धि को खोल कर जायेंगे तो गाँवों के शुद्ध सात्विक वायु-मण्डल के सजीव सम्पर्क में आपकी बुद्धि खूब ताजापन अनुभव करेगी।

इसके बाद वे उस विषय पर आये, जिस पर कि विषय-समिति में उन्होंने अपने विचार प्रगट किए थे। वायु-मण्डल अनुकूल नहीं था, इसलिए उस विषय पर वे कोई प्रस्ताव नहीं ला सके। "ज्योतिसंघ" नामक आन्दोलन की संचालिका बहनों ने उन्हें एक पत्र लिखा था। इसी को लेकर उन्होंने कुछ कहा। इस पत्र के साथ एक प्रस्ताव भी था, जिसमें उन्होंने उस वृत्ति की निन्दा की जो आज कल स्त्रियों का चित्रण करने के विषय में वर्तमान साहित्य में चल रही है। गांधी जी को लगा कि उनकी शिकायत में काफ़ी बल है और उन्होंने कहा— "इस आरोप में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आज कल के लेखक स्त्रियों का बिल-कुल झूठा चित्रण करते हैं। जिस अनुचित भावुकता के साथ स्त्रियों का चरित्र-चित्रण किया जाता है, उनके शरीर सौन्दर्य का जैसा भद्दा और असभ्यता पूर्ण वर्णन किया जाता है, उसे देख कर इन कितनी ही बहिनों को घृणा होने लग गई है। क्या उनका सारा सौन्दर्य और बल केवल शारीरिक सुन्दरता ही में है? पुरुषों की लालसा भरी विकारी आँखों को तृप्त करने की क्षमता में ही है? इस पत्र की लेखिकाएँ पूछती हैं और

उनका पूछना बिलकुल न्याय है कि क्यों हमारा इस तरह वर्णन किया जाता है, मानों हम कमजोर और दब्बू औरतें हों, जिनका कर्तव्य केवल यही है कि घर के तमाम हल्के से हल्के काम करते रहें और जिनके एक मात्र देवता उनके पति हैं, जैसी वे हैं वैसी ही उन्हें क्यों नहीं बतलाया जाता ? वे कहती हैं, 'न तो हम स्वर्ग की अप्सराएँ हैं, न गुड़ियां हैं और न विकार और दुर्बलताओं की गठरी ही हैं। पुरुषों की भाँति हम भी तो मानव प्राणी ही हैं। जैसे वे, वैसी ही हम भी हैं। हम में भी आज़ादी की वही आग है। मेरा दावा है कि उन्हें और उनके दिल को मैं अच्छी तरह जानता हूं। दक्षिण अफ्रीका में एक समय मेरे पास स्त्रियाँ-ही स्त्रियाँ थीं। मर्द सब उनके जेलों में चले गये थे। आश्रम में कोई ६० स्त्रियाँ थीं। और मैं उन सब लड़कियों और स्त्रियों का पिता और भाई बन गया था। आपको सुन कर आश्चर्य होगा कि मेरे पास रहते हुए उनका आत्मिक बल बढ़ता ही गया, यहां तक कि अंत में वे सब खुद-ब-खुद जेल चली गईं'।

मुझसे यह भी कहा गया है कि हमारे साहित्य में स्त्रियों का खामखा देवता के सदृश वर्णन किया गया है। मेरी राय में इस तरह का चित्रण भी बिल्कुल ग़लत है। एक सीधी सी कसौटी मैं आपके सामने रखता हूँ। उनके विषय में लिखते समय आप उनकी किस रूप में कल्पना करते हैं ? आपको मेरी यह सूचना है कि आप काग़ज़ पर क़लम चलाना शुरू करें, इससे पहले यह ख्याल करलें कि स्त्री जाति आपकी माता है और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आकाश से जिस तरह इस प्यासी धरती पर सुन्दर जल की धारा वर्षा होती है, इसी तरह आपकी लेखनी से भी शुद्ध से शुद्ध साहित्य-सरिता बहने लगेगी। याद रखिये, एक स्त्री आपकी पत्नी बनी, उससे पहले एक स्त्री आपकी माता थी। कितने ही लेखक स्त्रियों की आध्यात्मिक प्यास को शान्त करने के

बजाय उनके विकारों को जागृत करते हैं। नतीजा यह होता है कि कितनी ही भोली स्त्रियाँ यही सोचने में अपना समय बरबाद करती रहती हैं कि उपन्यासों में चित्रित स्त्रियों के वर्णन के मुक़ाबिले में वे अपने को किस तरह सजा और बना सकती हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्य में उनका नख-शिख वर्णन क्या अनिवार्य है? क्या आपको उपनिषदों, कुरान और बाइबिल में ऐसी चीज़ें मिलती हैं? फिर भी क्या आपको पता नहीं कि बाइबिल को अगर निकाल दें, तो अंग्रेज़ी भाषा का भण्डार सूना हो जायगा? उसके बारे में कहा जाता है कि उसमें तीन हिस्सा बाइबिल है और एक हिस्सा शेक्सपियर। कुरान के अभाव में अरबी को सारी दुनिया भूल जायगी और तुलसीदास के अभाव में ज़रा हिन्दी की तो कल्पना कीजिये। आजकल के साहित्य में स्त्रियों के बारे में जो कुछ मिलता है, ऐसी बातें आपको तुलसीकृत रामायण में मिलती हैं?"

स्पष्टीकरण

"आपने गत ६ जुलाई के 'हरिजन' में उच्च शिक्षा पर जो विचार प्रगट किए हैं, उन्हें ज़रा और स्पष्ट करने की आवश्यकता है। मैं आपके बहुत से विचारों, ख़ास कर इस विचार से सहमत हूं, कि शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा होने के कारण विद्यार्थियों को भारी हानि पहुँचती है। मैं यह भी महसूस करता हूं कि आज-कल जिसे उच्च शिक्षा कह कर पुकारा जाता है, उसे यह नाम देना वैसा ही है, जैसे कोई पीतल को ही सोना समझ बैठे। मैं यह जो कुछ कह रहा हूं, वह अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं, क्योंकि मैं अभी हाल तक तथा कथित उच्च शिक्षा का एक अध्यापक था।

"साधारण आय और उच्च शिक्षा का दावा और उसका नतीजा अर्थात विश्वविद्यालय स्वावलम्बी होने चाहिएं यह आपका तीसरा निष्कर्ष है, जो मुझे कायल नहीं कर सका।"

"मेरा विश्वास है कि हरेक देश उन्नति की ओर जारहा है। और उसे न केवल रसायन शास्त्र, डाक्टरी तथा इञ्जीनियरी सीखने की ही सुविधाएँ हों, बल्कि साहित्य दर्शन, इतिहास, और समाज शास्त्र आदि सभी प्रकार की विद्याएँ सीखने की काफ़ी सुविधाएँ अवश्य प्राप्त होनी चाहिएं।

"तमाम उच्च शिक्षाओं की प्राप्ति के लिए ऐसी बहुत सी सुविधाओं की आवश्यकता है, जो राज की सहायता के बगैर प्राप्त नहीं हो सकतीं। ऐसी चेष्टा में जो देश स्वेच्छा पूर्वक प्रयत्न पर ही आश्रित हो, उसका पिछड़ जाना और हानि उठाना अनिवार्य है, यह कभी आशा ही नहीं की जा सकती कि वह देश स्वतन्त्र हो सकता है, या अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करने में समर्थ होगा। राज को हर प्रकार की शिक्षा की स्थिति पर सतर्कता पूर्वक निगाह रखनी चाहिए, इसके साथ ही साथ निजी प्रयत्न भी अवश्य होने चाहिएँ। सार्वजनिक संस्थाओं को मुक्त हस्त होकर दान देने के लिए हमारे अन्दर लार्ड नफ़ील्ड्स और मि० राकफेलर जैसे दानी होने ही चाहिए। राज्य इस शिक्षा में खामोश दर्शक की तरह नहीं रह सकता और न उसे ऐसा रहने ही देना चाहिए। उसे क्रियाशीलता के साथ आगे आकर संगठन, सहायता और पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। मैं चाहता हूं कि आप इस सवाल के इस पहलू को और भी स्पष्ट करें।

आपने अपने लेख के अन्त में कहा है 'मेरी योजना के अनुसार अधिक और बेहतर पुस्तकालय होंगे।'

"मैं इस योजना को ऐसा नहीं समझता और न मैं यह समझ सका कि इस योजना के अनुसार अधिक और बेहतर पुस्तकालय तथा प्रयोगशालाएँ कैसे स्थापित हो सकेंगी। मेरा यह मत है कि ऐसे पुस्तकालय और प्रयोगशालाएँ अवश्य कायम रहने चाहिएँ और जब तक दाता सार्वजनिक संस्थाएँ काफ़ी तादाद में आगे न आयें--राज तब तक अपनी हर प्रकार की जिम्मेवारी का परित्याग नहीं कर सकता"।

लेख तो मेरा काफ़ी स्पष्ट है, अगर उसमें जो "निश्चित प्रयोग" का उल्लेख हुआ है, उसका विस्तृत अर्थ न दे दिया जाय। मैंने ऐसे दारिद्र्य पीड़ित भारत का चित्र नहीं खींचा था, जिसमें लाखों आदमी अन-पढ़ हैं। मैंने तो अपने लिए ऐसे भारत का चित्र खींचा है, जो अपनी बुद्धि के अनुसार बुरावातर तरक्की कर रहा है। मैं इसे पश्चिम की मरणासन्न सभ्यता की थर्डक्लास या फर्स्टक्लास की भी नकल नहीं कहता। यदि मेरा स्वप्न पूरा हो जाय तो भारत के सात लाख गाँवों में से हरेक गाँव समृद्ध प्रजातन्त्रात्मक बन जायगा। उस प्रजातंत्र का कोई भी व्यक्ति अनपढ़ न रहेगा, काम के अभाव में कोई बेकार न रहेगा, बल्कि किसी-न-किसी कमाऊ धंधे में लगा होगा। हरेक आदमी को पौष्टिक चीजें खाने को, रहने को अच्छे हवादार मकान, और तन ढकने को काफ़ी खादी मिलेगी, और हरेक देहाती को सफ़ाई और आरोग्य के नियम मालूम होंगे और वह उनका पालन किया करेगा। ऐसे राज की विभिन्न प्रकार की और उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आवश्यकताएँ होनी चाहिए, जिन्हें या तो वह पूरा करेगा अथवा उसकी गति रुक जायगी। इसलिये मैं ऐसे राज्य की अच्छी तरह कल्पना कर सकता हूँ, जिसमें सरकार ऐसी शिक्षा के लिए आर्थिक सहायता देगी, जिसकी पत्र-प्रेषक ने चर्चा की है। इस सिलसिले में बस इतना ही कहना चाहता हूँ। और यदि राज की ऐसी आवश्यकताएँ होंगी, तो निश्चय ही उसे ऐसे पुस्तकालय रखने होंगे।

मेरे विचार के अनुसार ऐसी सरकार के पास जो चीज़ नहीं होगी, वह है बी० ए० और एम० ए० डिग्रीधारियों की फ़ौज, जिनकी बुद्धि दुनियाँ भर का किताबी ज्ञान ठूँसते-ठूँसते कमजोर हो चुकी है और जिनके दिमाग़ अंग्रेजों की तरह फर फर अंगरेजी बोलने की असंभव चेष्टा में प्रायः निःशक्त हो गये हैं। इनमें से अधिकांश को न केवल काम मिलता है और न नौकरी। और कभी कहीं नौकरी मिलती भी है तो वह आम तौर पर क्लर्की की होती है और उसमें उनका वह ज्ञान किसी काम नहीं आता जो उन्होंने स्कूलों और कॉलेजों में बारह साल गंवा कर प्राप्त किया है।

विश्व-विद्यालय की शिक्षा उसी समय स्वावलम्बी होगी, जब राज उसका उपयोग करेगा। उस शिक्षा पर ख़र्च करना तो जुर्म है, जिससे न राष्ट्र का लाभ होता है और न किसी व्यक्ति का ही। मेरी राय में ऐसी कोई बात नहीं है कि किसी व्यक्ति को तो लाभ पहुँचे और वह राष्ट्र के लिए लाभदायी सिद्ध न हो सकती हो। और चूंकि मेरे बहुत से आलोचक वर्तमान उच्च शिक्षा सम्बन्धी मेरे विचारों से सहमत जान पड़ते हैं और चूंकि प्राइमरी या सैकण्डरी शिक्षा का वास्तविकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए यह राज के किसी काम के लिए नहीं है। जब प्रत्यक्ष रूप से उसका आधार वास्तविकताओं पर होगा, और माध्यम मातृ-भाषा होगा—तो शायद उसके विरुद्ध कहने की कुछ गुंजाइश न रहे। शिक्षा का आधार वास्तविकता का होने का अर्थ ही यही है कि उसका आधार राष्ट्रीय अर्थात् राज्य की आवश्यकताएँ है। उस हालत में राज उसके लिए खर्च करेगा। जब वह शुभ दिन आयगा तो हम देखेंगे कि बहुत सी शिक्षण संस्थाएँ स्वेच्छा से दिए हुए दान के सहारे चल रही हैं, भले ही उनसे राज को लाभ पहुँचे या न पहुँचे। आज हिन्दुस्तान में शिक्षा पर जो खर्च किया जा रहा है, वह इसी प्रकार से सम्बंध रखता

है । इसलिए उसका भुगतान, यदि मेरा बस चले, जनरल रेवेन्यू से नहीं होना चाहिए ।

पर मेरे आलोचकों का दो मुख्य प्रश्नों—शिक्षा के माध्यम और वास्तविकताओं पर सहमत हो जाने से ही मैं खामोश नहीं हो सकता । उन्होंने इतने दिनों तक वर्तमान शिक्षा पद्धति की आलोचना की और उसे बर्दाश्त किया, पर अब जब कि उसमें सुधार करने का समय आगया है, तो कांग्रेसजनों को अधीर होजाना चाहिए । यदि शिक्षा का माध्यम धीरे धीरे बदलने के बजाय एकदम बदल दिया जाय तो हम यह देखेंगे, कि आवश्यकता को पूरा करने के लिए पाठ्य पुस्तकें भी प्राप्त हो रही हैं और अध्यापक भी । और यदि हम व्यावहारिक बुद्धि से असली काम करना चाहते हैं, तो एक ही साल में हमें यह मालूम हो जायगा कि हमें विदेशी माध्यम द्वारा सभ्यता का पाठ पढ़ने के प्रयत्न में राष्ट्र का समय और शक्ति नष्ट करने की दरकार नहीं थी । सफलता की शर्त यही है, कि सरकारी दफ्तरों में और अगर प्रान्तीय सरकारों का अपनी अदालतों पर अधिकार हो तो उन अदालतों में भी प्रान्तीय भाषायें तुरन्त जारी करदी जायें । यदि सुधार की आवश्यकता में हमारा विश्वास हो तो हम उसमें तुरन्त सफल हो सकते हैं ।

संयुक्तप्रान्त के विद्यार्थियों की सभा में

यहाँ दो कालेजों के, अर्थात् आगरा कालेज और सेन्टजान्स कालेज के विद्यार्थी आगरा कालेज के भवन में गांधी जी को मान-पत्र देने के लिए इकट्ठे हुए थे । गांधी जी ने पहले ही से सुन रखा था, कि और और प्रान्तों के मुकाबले संयुक्त प्रान्त के विद्यार्थी वर्ग में बाल विवाह की कुप्रथा अधिक भयंकर रूप धारण किये हुए है । गांधी जी ने

अपना भाषण शुरू करने से पहले विवाहित विद्यार्थियों को हाथ खड़े करने की प्रार्थना की। तुरत ८० फ़ी सदी से भी ज्यादा हाथ ऊपर उठ गये। इसी तरह सदा खादी पहनने वाले की संख्या भी दस या बारह से ज्यादा न निकली। कालेज के विद्यार्थियों ने गांधी जी को दिये मान-पत्र में कहा था—" हम गरीब हैं, अतएव मात्र हमारे हृदय ही आपको अर्पण करते हैं। हमें आपके आदर्शों में विश्वास है, परन्तु उनके अनुसार आचरण करने में हम असमर्थ हैं।" इस तरह की निराशा और कमजोरी की बातें किन्हीं युवकों के मुँह में शोभा दे सकती हैं? गांधी जी को यह सब देख सुनकर दुःख हुआ। अपना दुःख प्रकट करते हुए वे बोले 'मैं अपने युवकों के मुँह से ऐसी अश्रद्धा और निराशा की बातें सुनने को ज़रा भी तैयार न था। मेरे समान गोत के किनारे पहुँचा हुआ आदमी अपना भार हलका करने के लिए अगर युवकों से आशा न रखे तो और किन से रखे? ऐसे समय आगरा के नौजवान आकर मुझसे कहते हैं, कि वे मुझे अपना हृदय तो अर्पण करते हैं, मगर कुछ कर धर नहीं सकते, मेरी समझ में नहीं आता। वे क्या कहते हैं?" 'दरिया में लागी आग, बुझा कौन सकेगा?' कहते कहते गांधी जी का कंठ भर आया। वह बोले "अगर आप अपने चरित्र को बलवान् नहीं बना पाते, तो आपका तमाम पठन पाठन और शेक्सपियर, वर्डस्वर्थ वगैरा महा कवियों की कृतियों का अभ्यास निरर्थक ही ठहरेगा। जिस दिन आप अपने मालिक बन जायेंगे, विकारों को अधीन रखने लगेंगे, उस दिन आपकी बातों में भरी हुई अश्रद्धा और निराशा का अन्त होगा।" साथ ही उन्हों ने अविवाहित विद्यार्थियों को उनके विद्यार्थी जीवन की समाप्ति तक और विवाहितों को विवाह हो जाने पर भी विद्यार्थी अवस्था में ब्रह्मचर्य से रहने का अचूक उपाय बतलाया। गांधी जी से यह भी कहा गया था कि संयुक्त प्रान्त के विद्यार्थी अपने विवाह

के लिए माता पिता को विवश करते हैं, यही नहीं बल्कि विवाह के लिए उन्हें कर्जदार बनाने में नहीं झिझकते। अगर विवाह धार्मिक क्रिया है, तो उसमें धूमधाम या विलास को अवकाश नहीं रहता। अतएव गांधी जी ने विद्यार्थियों को सलाह दी कि वे ऐसे अनावश्यक और समर्यादित खर्च के विरुद्ध विद्रोह का शंक फूंकें। अन्त में खादी पर बोलते हुये गांधी जी ने विद्यार्थियों के महलनुमा और सजे हुए छात्रालयों तथा देश के झोंपड़ों में रहने वाली असंख्य ग़रीब बेहाल जनता का हृदय-द्रावक चित्र खींचा और इन दो वर्गों के बीच की भयंकर खाई को पाटने के लिए खादी को ही एक मात्र सुवर्ण साधन बताया।

करांची के विद्यार्थियों से

"तरुणों के लिये मेरे हृदय में स्नेहपूर्ण स्थान है और इसी से मैं तुम लोगों से मिलने को तुरन्त राज़ी हो गया; यद्यपि तबियत तो मेरी आजकल कुछ ऐसी है कि किसी रोगी तक को देखने को जी नहीं करता।"

इस हरिजन प्रवृत्ति को तो स्वयं ईश्वर ही चला रहा है। लाख-करोड़ों सवर्णों के हृदय-परिवर्तन की बात मनुष्य के वश की नहीं है, यह ईश्वर ही चाहे तो कर सकता है। अधिक से अधिक मनुष्य का किया इतना ही हो सकता है कि आत्म-शुद्धि और आत्म-तितिक्षा के सहारे वह ईश्वर के कार्य का एक निमित्त मात्र बन जाय। मैं तो इस पर जितना ही अधिक विचार करता हूँ, उतना ही मुझे अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पुरुषार्थहीनता का अनुभव होता है।

विद्यार्थियों को सबसे पहले नम्रता का अभ्यास करना चाहिये। बिना नम्रता के, बिना निरहङ्कारिता के वे अपनी विद्या का कोई सदुपयोग नहीं कर सकते। भले ही तुम लोग बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ पास करलो और

ऊँचे-ऊँचे पद भी प्राप्त करलो। पर यदि तुम्हें लोक-सेवा में अपनी विद्या का, अपने ज्ञान का उपयोग करना है, तो तुममें नम्रता का होना अत्यन्त आवश्यक है। मैं तुमसे पूछता हूँ, भारत के इन दीन-दुःखी ग्रामवासियों की सेवा में तुम्हारे ज्ञान का आज क्या उपयोग हो रहा है? दुनिया भर में आदर्श तो यह है कि मनुष्य के बौद्धिक तथा आध्यात्मिक गुणों का मुख्य उद्देश्य लोक-सेवा ही हो और अपना जीवन निर्वाह तो उसे अपना हाथ पैर चलाकर कर लेना चाहिये। ज्ञान उदर-पूर्ति का साधन नहीं, किन्तु लोक-सेवा का साधन है। प्राचीन काल में क़ानूनी सलाह का अपने आसामियों से एक पैसा भी नहीं लेते थे और आज भी यही होना चाहिये। विद्यार्थी अगर देश-सेवा करना चाहते हैं, तो सूट-बूट और हैट धारण करके नक़ली साहब बनने से काम नहीं चलता। तुम्हें एक ऐसे राष्ट्र की सेवा करनी है, जहाँ प्रति मनुष्य की औसत आमदनी मुश्किल से ७०) सालाना है। यह हिसाब मेरा नहीं, लॉर्ड कर्ज़न का लगाया हुआ है। इस दरिद्र देश की तुम लोग तभी सेवा कर सकते हो, जब कि मोटे खद्दर से तुम्हें सन्तोष हो और यूरोपियन ढङ्ग से रहने का यह सारा बोझ छोड़ दो।

हरिजन-कार्य के लिये तुम लोगों ने मुझे जो यह थैली भेंट की है, उसका मूल्य तो तभी आँका जा सकता है, जब कि इसमें हरिजन-सेवा का तुम्हारा सङ्कल्प भी पूरा-पूरा सन्निहित हो। तुम्हारे जीवन में यदि नम्रता और सादगी नहीं, तो तुम ग़रीब हरिजनों की सेवा कैसे कर सकते हो? ये बढ़िया बढ़िया रेशमी सूट पहन कर तुम उन गन्दी हरिजन बस्तियों को साफ़ कर सकते हो? तुम्हें अवकाश का जितना समय मिले, उसमें हरिजनों की सेवा तुम बड़ी अच्छी तरह से कर सकते हो। लाहौर और आगरे के कुछ विद्यार्थी इस प्रकार बराबर हरिजन-सेवा कर रहे हैं। गर्मी की छुट्टियाँ भी तुम इस काम में लगा सकते हो।

हरिजनों को हमने इतना नीचा गिरा दिया है कि अगर उन्हें जूठन देना बन्द कर दिया जाता है, तो वे इसकी शिकायत करते हैं। ऐसे दयनीय मनुष्यों की सेवा तभी हो सकती है, जब सेवकों का हृदय शुद्ध हो और अपने कार्य में उनकी पूरी आस्था हो। सिर्फ आर्थिक स्थिति में सुधार कर देना ही काफी नहीं।

ज़रा डाक्टर अम्बेडकर जैसे मनुष्यों की हालत पर तो सोचो। डाक्टर अम्बेडकर के समान मेरी जानकारी में सुयोग्य, प्रतिभासम्पन्न और निःस्वार्थ मनुष्य इने गिने ही हैं। तो भी जब वे पूना गये तो उन्हें एक होटल की शरण लेनी पड़ी, किसी ने उन्हें मेहमान की तरह अपने यहाँ न टिकाया। यह हमारे लिये शर्म में डूब मरने के लिये काफ़ी है। एक तरफ तो हमें डाक्टर अम्बेडकर जैसे मनुष्यों का हृदय स्पर्श करना है और दूसरी तरफ शङ्कराचार्यों को अपने पक्ष में लाना है। हरिजनों को तो हमने उन्हें काफ़ी योग्य होते हुए भी बुरी तरह पद-दलित कर दिया है और शंकराचार्यों को नकली प्रतिष्ठा दे रखी है। काम हमें दोनों ही से लेना है, जो कि एक दूसरे से बिलकुल प्रतिकूल दिशा में जा रहे हैं। नम्रता, सहनशीलता और धैर्य के बिना यह कैसे हो सकता है?

स्व० श्री विट्ठल भाई के सम्बन्ध में गान्धी जी ने कहा, "सिर्फ विट्ठल भाई का चित्र कालेज-हाल में लटका देने से ही तुम लोग उऋण नहीं हो सकते। उनसे ऋणमुक्त तो तुम तभी हो सकोगे, जब उनकी निःस्वार्थता, उनकी सेवा-भावना और उनकी सादगी को तुम लोग ग्रहण कर लोगे। वह चाहते तो वकालत या दूसरा कोई अच्छा सा धन्धा करके लाखों रुपया कमा कर मालामाल हो जाते, पर वह तो सारी जिन्दगी सादगी से ही रहे और अन्त में गरीबों की हालत में ही मरे। क्या अच्छा हो कि तुम लोग भी स्व० विट्ठल भाई पटेल का इसी तरह पदानुसरण करो।

उस दिन सायंकाल महिलाओं की सभा हुई। देखने लायक दृश्य था वह। स्त्रियाँ सभा मञ्च पर आतीं, बापू जी के हाथ में अपनी-अपनी पत्र-पुष्प की भेंट रख देतीं और अपने बाल-बच्चों के लिये बापू का आशीर्वाद लेकर प्रसन्न चित्त चली जाती थीं।

लाहौर के विद्यार्थियों से

"आप लोगों ने मुझे जो मान-पत्र और थैलियां दी हैं, इसके लिए मैं आपका आभार मानता हूं। जिस बात का मुझे डर था वही हुआ। यह सभा केवल विद्यार्थियों के लिए की गई थी; किन्तु जनता ने उनकी सभा पर व्यर्थ ही कब्जा कर लिया है, यह तो उचित नहीं है। आप लोगों की भीड़ को देख कर मुझे कल भी भय था कि कहीं मेरी मोटर मार्ग ही में न टूट जाय। कल जो काम १९ मिनट का था उसी में आपने मेरा सवा घंटा नष्ट कर दिया। इसलिए भविष्य में जो सभा जिनके लिए हो उन्हीं को उसमें आना चाहिए। हरिजन सेवा का कार्य एक धार्मिक कार्य है, इसलिये वह तप से ही सिद्ध हो सकता है। ऐसे काम केवल शान्ति से ही किये जा सकते हैं। मुमकिन है कि पंजाब में मेरा यह आखिरी दौरा हो, क्योंकि शायद मैं दुबारा यहां न आ सकूं। इसलिए इसी दौरे में मैं आप पर अधिक से अधिक प्रभाव डाल देना चाहता हूँ। जो विद्यार्थी हरिजन सेवा के कार्य में रस ले रहे हैं: उनको मैं धन्यवाद देता हूं। जैसा कि आपने मान पत्र में कहा है, मुझे आशा है कि आप लोग हरिजनों को अपने से अलग नहीं समझते। अगर आपका यह निश्चय ठीक है, तो आपको गाँवों में जाकर काम करना चाहिये। उन लोगों से आपको प्रेम करना चाहिये। यद्यपि उनमें कुछ लोग शराब पीते और अन्य बुरे काम करते हैं, तो भी आपको उनसे

सूग नहीं आनी चाहिये। आप उनके बच्चों को जाकर पढ़ावें। देहातों में इस काम की बड़ी आवश्यकता है। वहाँ काम करने के लिए आपको कॉलेज की शिक्षा भुला देनी होगी। इस कार्य के लिए सत्यशीलता, तपश्चर्या और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है। आप में यह सब बातें होंगी तभी आप कुछ कर सकेंगे। आपको वहां हरिजनों के सेवक बनकर रहना होगा और ऊपर की सब शर्तों को पूरी तरह से पालना होगा। आपका जो समय खाली बचे, उसमें आप यह काम करें तो मेरा भी बहुत सा काम बन जायगा। अस्पृश्यता दूर न हुई तो हिन्दू जाति मिट जायगी। हम इस रोग को पहचान नहीं रहे हैं, पर यह हमें अन्दर से बराबर खा रहा है। इस भेद भाव के रोग को मिटाना तपश्चर्या से ही संभव है आपने स्वयं मान-पत्र में कहा है कि हम बड़े विलासी हैं। आपको केवल परीक्षाएँ पास करने की चिन्ता लगी रहती है। आप चाहें तो असम्भव बात भी कॉलेज की शिक्षा में पा सकते हैं। आप भोग को त्याग दें और संयम से ईश्वर को पहचानें और उसके अधिक निकट हो जायें। ईशोपनिषद् में लिखा है कि, मनुष्य ईश्वर के पास जाना चाहता है, तो उसे भोग-विलास त्यागना होगा। आप विद्या क्या केवल नौकरियों के लिए प्राप्त कर रहे हैं ? विद्या तो वही है, जिससे मुक्ति मिले और शिष्टाचार आवे। अब आप सच्चा ज्ञान प्राप्त करने की चिन्ता करेंगे तभी काम बनेगा। आपने इस विलास में पड़ कर खादी तक का त्याग कर दिया है। मुझे तो लाहौर में यह देख कर बड़ा दुःख हुआ है कि आप खादी नहीं पहनते हैं। इस प्रकार तो आप एक रूप में ग्रामीण भाइयों का त्याग कर रहे हैं; क्योंकि यह रुपया उनके पास नहीं जाता। आपकी शिक्षा पर जो रुपया खर्च हो रहा है, वह प्रायः उन्हीं के पास से आता है, परन्तु ग्रामीणों को आप बदले में क्या दे रहे हैं ? आप उनके धन को व्यर्थ ही बहा रहे हैं। आप और कुछ न करते हुए केवल खद्दर ही

पहनें, तो इससे उनकी सेवा होगी। आप खद्दर न पहन कर न केवल अपने आप को ही धोखा दे रहे हैं, बल्कि सारे भारत को धोखा दे रहे हैं। आपको चाहिये कि आप अपनी इस भारी भूल से बच जावें।"

सिंध के विद्यार्थियों में

उन्होंने कहा—अंगरेज़ी में एक कहावत है, "अनुकरण करना उत्तमोत्तम स्तुति है। अभिनन्दन-पत्र में मेरी तारीफ कर मुझे सिमंजिले पर चढ़ा दिया है। परन्तु जिस बात की आपने तारीफ की है, उसके विरुद्ध मैं आपको पाता हूं। मानो आप यहां मुझसे यही कहने के लिए आये हैं कि आप जो कहते हैं वह सब हम जानते हैं, परन्तु हम उसके विरुद्ध ही करेंगे। कुछ जवान लोग कुत्तों की ईर्षा उड़ाते हैं। आप लोगों ने मुझे हिमालय के शिखर पर चढ़ा दिया है और वहीं आप मुझे [illegible] कर देना चाहते हैं। परन्तु आपको इस प्रकार मुक्ति नहीं मिलेगी। मुझे आपने यहां बुलाया है इसलिये आपको मुझे आगे पीछे का सब हिसाब देना होगा।" और गांधीजी ने उनसे हिसाब लिया और वह भी ऐसा कि वे कभी उसे भूल नहीं सकते हैं। पहले तो उन्हें अंगरेज़ी में अभिनन्दन-पत्र देने के लिए मीठा उलाहना दिया और परदेशी भाषा में अभिनन्दन-पत्र देने का कारण पूछा। वे हिन्दी अथवा सिन्धी में आसानी से अभिनन्दन-पत्र दे सकते थे।" परदेशी लोग भी जब वे मेरे पास आते हैं, तो यदि उन्हें हिंदुस्तानी भाषा का कोई शब्द मिलता है तो उसका प्रयोग करने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि वे उनमें विनय मानते हैं। तो फिर आपको इसके विरुद्ध करने की क्या ज़रूरत थी? और नेहरू कमिटी ने तो हिंदी को राष्ट्र भाषा स्वीकार की है। लेकिन आप शायद कहेंगे 'हमको नेहरू रिपोर्ट की क्या पड़ी है, हम लोग तो

सम्पूर्ण स्वतंत्रतावादी हैं। मैं आपको जनरल बोथा का उदाहरण देता हूं। वे दक्षिण अफ्रीका के बोअर युद्ध के बाद समाधान के लिए विलायत गये थे। बादशाह के समक्ष भी वे अँग्रेजी में न बोले और एक दुभाषिया को रख कर ड भाषा में ही बातचीत की स्वतंत्र और स्वतंत्रताप्रिय कौम के प्रतिनिधि को यही शोभास्पद है।"

अब उनके विलायती पहनावे की तरफ इशारा करके पूछा: 'अर्थशास्त्र के विद्यार्थी की हैसियत से यह तो आप को खबर होगी ही अथवा होनी चाहिए कि आपकी शिक्षा के पीछे प्रति विद्यार्थी सरकारी खजाने से जितना खर्च होता है, उसका एक अंश भी आप फीस देकर भरपाई नहीं करते हैं। तो यह बाकी रकम कहाँ से आती है इसका कभी आप लोगों ने विचार किया है? यह रकम ओरिस्सा के हाड पिंजरों के पैसों से आती है। उन्हें देखो, उनकी आँखों में तेज का एक किरण भी नहीं है। उनके चेहरों पर निराशा छा रही है। वर्ष के शुरू से अंत तक वे भूखों मरते हैं और मारवाड़ी और गुजराती धनी जो लोग वहाँ जाते हैं और उनकी गोद में थोड़े चावल फेंक आते हैं, उसी पर वे अपना निर्वाह करते हैं। इन भाइयों के लिए आपने क्या किया है? खादी पहनोगे तो इन लोगों के हाथ में एक दो पैसे जायेंगे। परन्तु आप तो विलायती कपड़े खरीद कर साठ करोड़ रुपये प्रतिवर्ष विदेश को भेज देते हैं और हमारे देश के गरीबों को बगैर रोजगार के बना कर उनके मुंह का कौर छीन लेते हैं। परिणाम यह हुआ कि देश पीसा जा रहा है। हमारा व्यापार देश को समृद्ध बनाने के बदले देश को लूटने का साधन बन गया है, हमारे व्यापारीगण मैंचेस्टर और लंकाशायर के कमीशन एजेन्ट बन गये हैं। जनता के पास से व्यापारी १००) खींच लेता है, तब शायद ही उसे पांच रुपया कमीशन मिलता होगा। ९५) तो विदेश को चले जाते हैं, और ५ प्रति सैकड़ा की कमाई से कराची, बम्बई जैसे बड़े शहरों का दिखाई देने

वाला वैभव टिक रहा है । यह हमारी करनी का फल है, यह देशभक्ति है, सुधार है या क्या है ? लार्ड सेलिसवरी ने एक ऐतिहासिक प्रसंग पर कहा था, कि सरकार को लोगों का लहू चूसना ही होगा और यदि लहू चूसना है, तो अच्छी स्पष्ट जगह पर नस्तर देना चाहिये । और यदि लार्ड सेलिसबरी के जमाने में भी लोगों का लहू चूसकर महसूल वसूल किया जाता था, तो आज क्या दशा होगी ? क्योंकि इतने साल की सतत लूट के बाद देश आज पहले से अधिक कंगाल हो गया है। आपकी शिक्षा के लिए, रुपये इकट्ठा करने का यह साधन है । और आपकी शिक्षा के लिए रुपया देने के लिए दूसरा क्या साधन है, जानते हो ? मुझे कहने में शरम मालूम होती है कि वह दूसरा साधन आबकारी है । आपके भाई और बहनों की जिस वस्तु के द्वारा पशु जैसी स्थिति होती है, उस महा पातक से होने वाली आमदनी से आपकी शिक्षा का निभाव होता है । मैं अभी आपके साथ विनोद कर रहा था, परन्तु मैं अपने हृदय का हाल आपसे क्या कहूँ वह तो अन्दर से रो रहा था । आप यह याद रखेंगे कि ईश्वर के दरबार में आपसे पूछा जावेगा— 'भले आदमी ! तुमने अपने भाई का क्या किया' आप उस समय क्या उत्तर देंगे ?

खलीफा उमर का नाम तो आपने सुना होगा । एक समय ऐसा आया कि जब मुसलमानों के उमराव लोग भोग-विलास में पड़ गये और महीन वस्त्र और महीन आटे की रोटियाँ खाने लगे तब खलीफा उमर ने उनसे कहा — "मेरे सामने से तुम चले जाओ, तुम लोग नबी के सच्चे अनुयायी नहीं ।"

हजरत साहब तो हमेशा मोटे कपड़े पहनते थे और मोटे आटे की रोटियाँ खाते थे । यह व्यवहार ईश्वर से डर कर चलने वालों का था । आप इनके जीवन में से कुछ अपने जीवन में उतार लें, तो क्या ही अच्छा हो ।

और क्या यह शरम की बात नहीं है कि सिंध में इतने नवयुवक होने पर भी प्रो० मलकानी को गुजरात से स्वयंसेवकों की भिक्षा मांगनी पड़ी ?

अंत में 'देती-लेती' के सम्बन्ध में मैं आपसे किन शब्दों में कहूँ। मुझसे यह कहा गया है कि शादी की बात निकली कि लड़का विलायत जाने की बात करने लगता है और उसका खर्च भावी स्वसुर से मांगता है। शादी के बाद भी उससे रुपये निकलवाने का एक भी मौका नहीं जाने देता है। पत्नी तो घर की रानी और हृदय की देवी होनी चाहिए, परन्तु आपने तो उसे गुलाम बना दिया है। आप लोगों को अंगरेजी सभ्यता के प्रति आदर है। मेरे जैसे को अंगरेजी में ही अभि-नन्दन पत्र देते हैं। क्या आप लोगों को अंग्रेजी साहित्य से यही पाठ मिला है ? स्त्री को हिन्दू शास्त्रों में अर्धाङ्गिनी कहा गया है, परन्तु आपने तो उसे गुलाम बना दिया है। और उस का परिणाम यह हुआ कि आज हमारे देश को अर्धाङ्ग वायु की व्याधि लगी है। स्वराज नामर्दों के लिए नहीं है, वह तो हँसते २ आँखों पर पट्टी बाँधे बिना ही जो फांसी चढ़ने को तैयार हैं, उनके लिए है। मैं आप से यह वचन मांग रहा हूँ कि आप 'देती-लेती' का कलंक सिंध से जल्दी ही मिटा देंगे और अपनी बहन और पत्नियों के लिए स्वतंत्रता और समानता प्राप्त करने को मर मिटेंगे। तभी मैं यह समझूंगा कि आपके हृदय में देश की स्वतन्त्रता की सच्ची लगन है।

फिर उन्होंने विद्यार्थिनियों को उद्देश कर कहा "यदि मेरे कब्जे में कोई लड़की हो, तो उसे मैं जन्म भर कुवाँरी रखूं, पर ऐसे नवयुवक से मैं उसकी कभी भी शादी न करूं, जो उससे शादी करने के बदले में मुझ से एक कौड़ी भी मांगे। मैं उससे कहूँगा यहाँ से तुम चले जाओ। तुम्हारे जैसे नालायक के लिये यह लड़की नहीं है।"

अन्त में विनोद करते हुए उन्होंने प्रश्न किया—'आपको यह खबर है कि मेरा अनुकरण करने का यत्किंचित् भी विचार न होने पर, आप यदि मेरी ऐसी बड़ी तारीफ़ करेंगे, तो लोग आप के बारे में क्या कहेंगे ?'' उसके उत्तर में 'मूर्ख', 'नालायक', 'गधे' ऐसे शब्द सुनने में आये। गांधीजी ने कहा, मैं ऐसे सख्त शब्दों का प्रयोग तो नहीं करता, परन्तु आप भाट कहलावेंगे, यह कहूँगा।

नागपुर के विद्यार्थियों से

अस्पृश्यता निवारण का व्यापक अर्थ

आप दोनों वक्ताओं ने मेरे विषय में जो कहा है, उसे मैं सच मान लूं, तो मैं नहीं जानता कि मेरा स्थान कहाँ होगा। पर मैं यह जानता हूं कि, मेरा स्थान असल में कहाँ है। मैं तो भारत का एक नम्र सेवक हूँ; और भारत की सेवा करने के प्रयत्न में मैं समस्त मानव-जाति की सेवा कर रहा हूँ। मैंने अपने जीवन के प्रारंभ काल में ही यह देख लिया था कि भारत की सेवा विश्व-सेवा की विरोधिनी नहीं है; और फिर ज्यों-ज्यों मेरी उम्र बढ़ती गई और साथ ही साथ समझ भी, त्यों-त्यों मैं देखता गया कि, मैंने यह ठीक ही समझा। ५० वर्षों के सार्वजनिक जीवन के बाद आज मैं कह सकता हूँ कि राष्ट्र की सेवा और जगत् की सेवा परस्पर विरोधी नहीं हैं। इस सिद्धान्त पर मेरी श्रद्धा बढ़ती ही जाती है। यह एक श्रेष्ठ सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के स्वीकार करने से ही जगत् में शान्ति स्थापित हो सकती है और पृथ्वी पर बसी हुई मनुष्य जाति का द्वेष-भाव शान्त हो सकता है। पूर्व वक्ता ने यह सत्य ही कहा है कि, अस्पृश्यता के विरुद्ध मैंने जो यह युद्ध छेड़ा है, उसमें मेरी दृष्टि सिर्फ़ हिन्दू-धर्म पर ही नहीं है। मैंने यह अनेक बार

कहा है कि हिन्दुओं के हृदय से अस्पृश्यता यदि जड़ मूल से नष्ट हो जाय, तो इसका अर्थ होगा करोड़ों मनुष्यों का हृदय-परिवर्तन; और इससे बड़ा विशद् परिणाम निकलेगा। कल रात की विराट् सार्वजनिक सभा में मैंने कहा था कि, अगर सचमुच अस्पृश्यता हिन्दुओं के हृदय से दूर हो जाय—अर्थात् सवर्ण हिन्दू इस भयानक काले दाग को धो कर बहा दें, तो हमें थोड़े ही दिनों में मालूम हो जायगा कि हम सब हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि—एक ही हैं, अलग-अलग नहीं।

अस्पृश्यता का यह अंतराय दूर होते ही हमें अपनी इस एकता का भान हो जायगा। मैं सैकड़ों बार कह चुका हूँ कि अस्पृश्यता एक सहस्रमुखी राक्षसी है, उसने अनेक रूप धारण कर रखे हैं। कुछ रूप तो उसके अत्यन्त सूक्ष्म हैं। मेरे मन में किसी मनुष्य के प्रति ईर्षा होती है, तो वह भी एक प्रकार की अस्पृश्यता ही है। मैं नहीं जानता कि मेरे जीवन-काल में मेरा यह अस्पृश्यता-नाश का स्वप्न कभी प्रत्यक्ष होगा या नहीं। जिन लोगों में धर्म बुद्धि है, जो धर्म के बाहरी विधि विधान रूपी शरीर पर नहीं, किन्तु उसके वास्तविक जीवन तत्व पर विश्वास रखते हैं, उन्हें इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जो सूक्ष्म अस्पृश्यता मनुष्य जाति के एक बड़े समुदाय के जीवन को कलुषित कर रही है, वह अस्पृश्यता नष्ट होनी ही चाहिये। हिन्दुओं का हृदय यदि इस पाप कलंक से मुक्त हो सका, तो हमारे ज्ञान नेत्र अधिक से अधिक खुल जायेंगे। अस्पृश्यता का वस्तुतः जिस दिन नाश हो जायगा, उस दिन मनुष्य जाति के अपार लाभ का अनुमान कौन कर सकता है? अब तुम लोग सहज ही समझ सकते हो कि इस एक चीज़ के लिए क्यों मैंने अपने प्राणों की बाजी लगा रखी है।

विद्यार्थियों का योग दान

तुम सबने जो यहाँ एकत्र हुए हो, मेरा इतना आशय यदि समझ लिया है और मेरे इस कार्य का पूरा अर्थ तुम्हारे ध्यान में आगया है, तो तुमसे जो मुझे सहायता चाहिए, वह तुम मुझे तुरन्त ही दोगे। अनेक विद्यार्थियों ने पत्र लिख-लिख कर मुझ से पूछा है कि हम लोग इस आन्दोलन में क्या योगदान दे सकते हैं? मुझे आश्चर्य होता है कि विद्यार्थियों को यह प्रश्न पूछना पड़ता है। यह क्षेत्र तो इतना विशाल है और तुम्हारे इतना अधिक समीप है, कि तुम्हें इस प्रश्न के पूछने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये कि हम क्या करें और क्या न करें! यह कोई राजनीतिक प्रश्न नहीं है। सम्भव है कि यह प्रश्न राजनीतिक बन जाय, लेकिन फिलहाल तुम्हारे या मेरे लिए तो इसका राजनीति के साथ कुछ सरोकार नहीं है।

मेरा जीवन धर्म के सहारे चल रहा है। मैं कह चुका हूँ कि मेरी राजनीति का भी उद्गम स्थान धर्म ही है। मेरी राजनीति और धर्म नीति में कोई अन्तर नहीं, राजनीति में जहाँ मुझे माथापच्ची करनी पड़ी, वहाँ भी मैंने अपनी जीवनधार धर्म तत्व की कभी उपेक्षा नहीं की, चूंकि यह एक दया धर्म का काम है, इसलिए विद्यार्थियों को अपने अवकाश का अधिक नहीं तो थोड़ा समय तो हरिजन सेवा में देना ही चाहिए। तुमने मुझे इतनी सुन्दर थैली देकर उन भारतीय विद्यार्थियों की प्रथम पंक्ति में अपना स्थान प्राप्त कर लिया है, जिनकी अनेक सभाओं में अपने गत प्रवासों में मैंने भाषण दिये हैं। पर मुझे तो तुमसे इससे अधिक की आशा है। मैं देखता हूं, कि अगर मुझे अपने अवकाश का समय देने वाले बहुत से सहायक मिल जांय, तो बहुत बड़ा काम पूरा हो सकता है। यह काम किराये के आदमियों से होने का नहीं। हरिजन बस्तियों में जाना, उनकी गलियाँ साफ़ करना, उनके घरों को

देखना, उनके बच्चों को नहलाना-धुलाना यह काम भाड़े के आदमियों के द्वारा नहीं कराया जा सकता। विद्यार्थी क्या सेवा कर सकते हैं, यह मैं हरिजन के एक गतांक में बता चुका हूँ। एक हरिजन सेवक ने मुझे बताया है, कि यह कितना बड़ा भागीरथ कार्य है और उसे इसमें कितनी कठिनाइयां पड़ी हैं। मेरा ख़याल है, कि हरिजन बालकों की अपेक्षा तो जंगली बालकों तक की दशा अच्छी होती है। हरिजन बालक जिस अधःपतन के वातावरण में दिन काट रहे हैं, उस वातावरण में जंगली बालक नहीं रहते। जंगली बालकों के आस पास यह गन्दगी भी नहीं होती। यह सवाल भाड़े के टट्टुओं से हल नहीं हो सकता। चाहे जितना पैसा हमें मिल जाय, तो भी यह काम पूरा नहीं हो सकता। इस कार्य के करने में तो तुम्हें गर्व होना चाहिए। तुम्हें स्कूल-कालेजों में जो शिक्षा मिलती है, उसकी यह सच्ची कसौटी है। तुम्हारी क़ीमत इससे नहीं आंकी जाती है, कि तुम लच्छेदार अंगरेजी भाषा में व्याख्यान दे सकते हो। अगर ६०) मासिक या ६००) मासिक की तुम्हें कोई सरकारी नौकरी मिल गई, तो इससे भी तुम्हारी कीमत नहीं आंकी जायगी। दीनों की, दरिद्रनारायणों की तुम सेवा करोगे, उसी से तुम्हारी क़ीमत का पता लगेगा।

शिक्षा सफल करो!

मैं चाहता हूँ कि मैंने जो कहा है उसी भावना से तुम लोग हरिजन सेवा करो। मुझे आज तक एक भी कोई विद्यार्थी ऐसा नहीं मिला, जिसने यह कहा हो कि मैं नित्य एक घंटा अवकाश का नहीं निकाल सकता। तुम लोग अगर डायरी लिखने की आदत डाल लो, तो तुम्हें मालूम होगा, कि साल के ३६५ दिनों में तुम कितने कीमती घन्टे यों ही नष्ट कर देते हो। तुम्हें यदि अपनी शिक्षा सफल करनी है, तो इस महान् आन्दोलन की ओर अपना ध्यान दो। कुछ दिनों से वर्धा के आस

पास पांच मील के घेरे में स्कूल, कॉलेज के विद्यार्थी हरिजन सेवा कर रहे हैं। वे अपने नाम की डुग्गी नहीं पीटते फिरते। अच्छा हो कि तुम लोग उनका काम देख आओ। यह सेवा कार्य कठिन तो जरूर है, पर आनन्द-दायी है। क्रीकेट और टैनिस से भी अधिक आनन्द तुम्हें इस कार्य में मिलेगा। मैं बारबार कहता हूँ, कि मेरे पास यदि सच्चे, चतुर और ईमानदार कार्य-कर्त्ता होंगे तो पैसा तो मिल ही जायगा। मैं १८ वर्ष का था, तभी से भीख मांग-मांग कर पढ़ना शुरू किया था। मैंने देखा, कि यदि यथेष्ट सेवक हमारे पास हों, तो पैसा तो अनायास ही मिल सकता है। सिर्फ पैसे से मुझे कभी सन्तोष नहीं होता, मैं तो तुम लोगों से आज यह भीख मांगता हूँ, कि अपने छुट्टी के समय में से कुछ घंटे हरिजनसेवा में लगाने की प्रतिज्ञा कर लो। सभापति महोदय ने तुम से कहा है, कि गांधी एक स्वप्नद्रष्टा है। हाँ मैं स्वप्नद्रष्टा अवश्य हूँ, किन्तु मेरा सपना कोई आकाश-वाटिका नहीं है। मैं तो अपने स्वप्नों को यथाशक्ति कार्यरूप में परिणित करना चाहता हूँ। इसलिए तुम लोगों से मुझे जो उपहार प्राप्त हुए हैं, उनका नीलाम मुझे यहीं कर देना चाहिए।

इङ्गलैंड में भारतीय विद्यार्थियों के साथ

एक विद्यार्थी के प्रश्न के उत्तर में गान्धी जी ने कहा :—"लाहौर और करांची के प्रस्ताव एक ही हैं। करांची का प्रस्ताव लाहौर के प्रस्ताव का उल्लेख कर उसे पुनः स्वीकृत करता है; किन्तु यह बात स्पष्ट कर देता है कि पूर्ण स्वतन्त्रता सम्भवतः ग्रेट ब्रिटेन के साथ ही सम्मानयुक्त साझेदारी को अलग नहीं करती। जिस प्रकार अमेरिका और इङ्गलैण्ड के बीच साझेदारी हो सकती है, उसी तरह हम इङ्गलैण्ड और भारत के बीच साझेदारी स्थापित कर सकते हैं। करांची प्रस्ताव में जो सम्बन्ध विच्छेद का उल्लेख है, उसका अर्थ यह है कि हम साम्राज्य के होकर नहीं रहना

चाहते। किन्तु भारत को ग्रेट ब्रिटेन का साझेदार आसानी से बनाया जा सकता है।

"एक समय था जब कि मैं औपनिवेशिक पद पर मोहित था, किन्तु बाद में मैंने देखा कि औपनिवेशिक पद ऐसा पद है, जो एक ही कुटुम्ब के सदस्यों—आस्ट्रेलिया, केनाडा, दक्षिण अफ्रीका और न्यूजीलैंड आदि में समान है। ये एक स्रोत से निकली हुई रियासतें हैं, जिस अर्थ में कि भारत नहीं हो सकता। इन देशों की अधिकांश जनता अंग्रेजी भाषा भाषी हैं और उनके पद में एक प्रकार का ब्रिटिश सम्बन्ध सन्निहित है। लाहौर कांग्रेस ने भारतीयों के दिमाग में से साम्राज्य का ख्याल धो डाला है और स्वतन्त्रता को उनके सामने रखा है। करांची के प्रस्ताव ने इसका यह सन्निहित अर्थ किया कि एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से भी हम ग्रेट ब्रिटेन के साथ, अवश्य ही यदि वह चाहे तो साझेदारी कायम कर सकते हैं। जब तक साम्राज्य का ख़याल बना रहेगा, तब तक डोर इङ्गलैंड के पार्लमेण्ट के हाथ में रहेगी, किन्तु जब भारत ग्रेट ब्रिटेन का एक स्वतन्त्र साझेदार होगा, तब सूत्र संचालन इङ्गलैंड के बजाय दिल्ली से होगा। एक स्वतन्त्र साझेदार की हैसियत से भारत युद्ध और रक्त-पात से थकित संसार के लिए एक विशेष सहायक होगा। युद्ध के फूट निकलने पर उसे रोकने के लिए भारत और ग्रेट ब्रिटेन का समान प्रयत्न होगा, अवश्य ही हथियारों के बल से नहीं, वरन् उदाहरण के दुर्दमनीय बल से। आपको व्यर्थ का अथवा बहुत बड़ा दावा प्रतीत होगा और आप इसकी ओर हँसेंगे। किन्तु आपके सामने बोलने वाला राष्ट्र का प्रतिनिधि है जो उस दावे को पेश करने के लिए आया है, और जो इससे किसी क़दर कम पर रज़ामन्द होने के लिए तैयार नहीं है और आप देखेंगे कि यदि यह प्राप्त नहीं हुआ तो मैं एक पराजित की तरह चला जाऊँगा, किन्तु अपमानित की तरह नहीं। किन्तु मैं ज़रा भी कम न लूंगा, और

यदि मांग पूरी नहीं की गई, तो मैं देश को और भी अधिक विस्तृत और भयंकर परीक्षाओं में उतरने के लिए आह्वान करूँगा, और आप को भी हार्दिक सहयोग के लिए लिखूंगा।''

बिहार विद्यापीठ में

(बिहार विद्यापीठ के समावर्त्तन संस्कार के अवसर पर गाँधीजी का भाषण)

आज सभापति का स्थान लेकर मेरे हृदय में जो भाव पैदा हो रहे हैं, उनका मैं वर्णन नहीं कर सकता। हृदय की भाषा कही नहीं जा सकती। मुझे विश्वास है मेरे हृदय की बात आप लोगों के हृदय समझ लेंगे।

अगर यह कहूँ कि स्नातकों को धन्यवाद देता हूँ, तो यह तो लौकिक आचार कहा जायगा। उन्होंने देश सेवा और धर्म सेवा की जो प्रतिज्ञा ली है, उसका रहस्य वे हृदय में उतारें और मेरे मुख से उन्होंने जो श्रुति वचन के बोध सुने हैं, उन्हें हृदय में धारण करें और उनके योग्य आचरण करें, तो मुझे तो इससे सन्तोष हो और इसी से विश्वास रखकर कि विद्यापीठ का जीते रहना कल्याणकारी है, मैं इस पद पर बैठता हूँ।

गुजरात विद्यापीठ में कुछ दिन हुए मैंने जो उद्‌गार काढ़े थे, वही मेरे मुँह में आज आ रहे हैं। हमारे यहाँ अगर एक अध्यापक आदर्श अध्यापक रह जायें, एक भी विद्यार्थी रह जाय, तो हम समझ लेंगे कि हमें सफलता मिली है। संसार में हीरा की खानें खोदते-खोदते पत्थर के ढेर निकलते हैं और अथाह परिश्रम के बाद एक दो हीरे निकलते हैं। द० अफ्रिका में मैं जब तक था, मैंने हीरे की खान एक भी न

देखी थी। मुझे यह भय था कि मैं अस्पृश्य गिना जाता हूँ, इससे मेरा शायद अपमान हो! पर गोखले को अफ्रिका का यह उद्योग मुझे दिखलाना था। उनका अपमान तो होना ही न था। उनके साथ मैंने जो दृश्य देखा उसका तुमसे क्या बयान करूँ! धूल और पत्थर का भारी पहाड़ पड़ा हुआ था। इसके ऊपर करोड़ों रुपयों का खर्च हो चुका था और लाखों मन धूल निकलने के बाद, दो चार हीरे निकल गये तो भाग्य बखानें, पर इस खानवाले का मनोरथ था अनुपम हीरा निकालना। कोहेनूर से भी बढ़ा-चढ़ा कलीनन हीरा निकाल कर कृतार्थ होना चाहता था। मनुष्य की खान पर भी हम लाखों करोड़ों खर्च करके वैसे मुट्ठी भर रत्न और हीरा निकाल सकें तो क्या ही अच्छा हो! ये रत्न उत्पन्न करने के भाव से ही यह विद्यापीठ चलाना चाहिए। यह दुःख की बात नहीं है कि आज इस विद्यापीठ से इतने कम स्नातक पदवी लेते हैं। दुःख की बात तो तब होगी, जब वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन न करें और प्रतिज्ञा करते हुए मन में मानें कि इतने शब्द ओठ से भले ही बोल लेवें, फिर बाहर जाकर भूल जावेंगे। तब मेरे दिल में होगा कि इस प्रवृत्ति ने देश को दगा दिया है। तब तो आज जो कुछ किया है, वह सभी नाटक हो जायगा और ऐसे ही नाटक करने हों तो फिर विद्यापीठ की हस्ती जितनी जल्दी मिटजाय उतना ही अच्छा।

आज हमारे पास पाँच विद्यापीठ हैं-बिहार, काशी, जामिये-मिल्लिया दिल्ली, महाराष्ट्र और फिर गुजरात। मेरा ऐसा विश्वास है कि सभी अपने अपने ध्येय पर ठीक ठीक चल रहे हैं और इनसे देश का अहित न हुआ, बल्कि हित ही हुआ है।

इन सब की प्रवृत्ति के दो रूप रहे हैं-इतिपक्ष और नेतिपक्ष। सभी विद्यापीठों में नेतिपक्ष का ध्येय है। सरकार का अनाश्रय, मुझे अतिशय विचार और अवलोकन के बाद मालूम होता है, कि यह अना-

श्रय या असहकार उनसे करा करके मैंने कुछ बुरा नहीं किया है। मुझे इसका ज़रा भी पछतावा नहीं है कि मैंने हज़ारों विद्यार्थियों को सरकारी संस्थाओं में से निकाला, सैकड़ों शिक्षकों और अध्यापकों से इस्तीफे दिलवाये। मुझे इसकी खबर है कि उनमें कितने लौट गये हैं। कितने दुःखी होकर गये हैं और बहुतों को सन्तोष नहीं है। मगर इसका मुझे कुछ दुःख नहीं है। दुःख नहीं है, इसका अर्थ यह है कि पश्चात्ताप का दुःख नहीं है, समभाव का दुःख तो है ही। पर यह कष्ट तो हमारे ऊपर पड़ना ही चाहिए, ऐसे कष्ट अभी और अधिक पड़ेंगे। सत्य का आचरण करने से कोई तकलीफ़ न झेलनी पड़ेगी, सदा सुख की सेज सोने को मिलती हो, तो सभी सत्य का आचरण करें। परिश्रम अगर पड़े ही नहीं तो फिर सत्य की खूबी कहाँ रही! हमारा सर्वस्व चला जाय, हिन्दुस्तान हाथ में से जाय तोभी हम सत्य न छोड़ें और विश्वास रखें कि ईश्वर की नाति न्यारी है। अगर यह सच हो कि ईश्वर का राज्य सत्य पर अवलम्बित है, तो हिन्दुस्तान का हक पीछे उसे मिलेगा ही। यही हमारी सत्यनिष्ठा है। अनेक अध्यापक आज अशान्त हैं। कितने भूखों मरते हैं। भले ही अशान्त हों, भले ही भूखों मरें। यही हमारी तपश्चर्या है और इसी तपश्चर्या में हम राष्ट्रीय वातावरण को स्वच्छ करेंगे।

परन्तु इस द्वन्द्वमय जगत में इति पक्ष भी पड़ा ही हुआ है। सभी धर्म ईश्वर का वर्णन नेति-नेति कह कर करते हैं। मगर तो भी व्यवहार में तो इति से ही काम लेते हैं। यह इति पक्ष कठिन है। यह रचनात्मक पक्ष है। इसकी कठिनता मैं देख रहा हूँ, इस इति पक्ष के विचार में मैं रोज़-रोज़ प्रगति कर रहा हूँ। यूरोप का जब मैं खयाल करता हूँ, तो वहाँ के देशों में बालकों को वहाँ की जलवायु के अनुकूल तालीम दी जाती है। एक ही लड़ाई का वर्णन तीन देश के जुदा-

जुदा इतिहासकार तीन जुदा-जुदा दृष्टियों से करेंगे, जुदा-जुदा दृष्टियों से ही उन-उन देशों का हित होता है। इङ्गलैण्ड की दृष्टि से फ्रांस या जर्मनी नहीं देखते; और हमारे यहाँ? हमारे यहाँ तो इङ्गलैण्ड की जलवायु के अनुकूल तालीम दी जाती है। यही बात दृष्टि में रख कर हमारे यहाँ सारी तालीम दी जाती है कि, हम अंग्रेज़ी सभ्यता का अनुकरण किस प्रकार करेंगे? इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, हमारी आज की स्थिति में यही स्वाभाविक है। मैकौले बेचारा हमारे पुराणों को न समझे, तो क्या करे! वह तो उन्हें बकवाद समझ कर, पाश्चात्य पुराण को ही दाखिल करने का आग्रह करेगा। उनकी प्रामाणिकता में मुझे कुछ भी सन्देह नहीं, मगर उन्होंने इस शिक्षा का जो आग्रह रखा, इससे देश की हानि हुई है। परदेशी भाषा के द्वारा शिक्षा पाने के कारण हम नई चीजें उत्पन्न करने की शक्ति खो बैठे हैं, बेपाँख की चिड़िया बन गये हैं। हम क्लर्क या अख़बार नवीस बनने की ही दृष्टि रखते हैं। अगर बहुत हुआ तो लाटसाहब बनने तक हमारी दृष्टि पहुँचती है। एक लड़के ने मुझे कहा कि—'मैं लाटसाहब बनना चाहता हूँ।' मैं हारा। मैंने कहा कि इसके लिए सरकार की सलामी बजानी पड़ेगी। सरकार की खुशामद करनी, उसकी तालीम लेनी पड़ेगी; हमारे देश में लार्ड सिंह बनने की ताकत नहीं। आज तो ईंट के बदले संगमरमर की फर्श क्यों कर बने, इसी का खयाल लगा हुआ है। इलाहाबाद के इकानमिक इन्स्टीट्यूट को देख कर और उस पर लाखों का ख़र्च सुन कर मुझे दुःख हुआ। उसमें हम कितने आदमियों को पढ़ा सकेंगे? नई दिल्ली को देखो। उसे देख कर तो आँख में आंसू आता है। रेलवे ट्रेन के पहले और दूसरे दर्जों के डिब्बों में पिछले २० वर्षों में कितना अदल-बदल हुआ है? पर क्या गाँव वालों के लिए भी डिब्बे का सुधार हुआ है? गाँव वालों को फ़र्स्ट क्लास के डिब्बे में सुधार होने

से क्या लाभ पहुँचा है ? यह सब प्रगति सात लाख गाँव वालों का ख्याल दूर करके की गई है । इसे अगर शैतानियत न कहूँ, तो मेरी सत्य-निष्ठा खोटी ठहरे । इस राज्य की यही कल्पना है । इसमें भी कोई शंका नहीं की, यह एक यही कल्पना कर सकता है । हाथी अगर चींटी के लिए इन्तज़ाम करने जाय, तो बेचारा हाथी क्या करेगा ? उसके लाये सामान के ढेर के ही नीचे चींटी कुचल जाय ! सर लेपल ग्रिफिन ने कहा था कि, हिन्दुस्तान के लोगों का खयाल हमें आ ही नहीं सकता । जिसके बिवाई फटती है, वही उसका कष्ट जानता है । मगर हम तो दूसरों से ही अपना प्रबन्ध कराने में इति श्री मानते हैं । हमारी व्यवस्था दूसरा कोई क्यों कर सकेगा ? चाहे वह कितना ही भला हो; मगर तो भी वह बेचारा क्यों करे ? कितने जान बूझ कर नाश कराने वाले हैं सही, मगर इसमें मुझे कुछ शंका ही नहीं है कि, अनेक अंग्रेज शुद्ध बुद्धि वाले हैं । मगर जहाँ तक हम आप ही तैयार न होवें, वे हमारा दुःख, हमारी भूख क्यों कर समझें ? उनका उल्टा न्याय चलता है । हमारा न्याय है ग़रीब का खयाल पहले करना; और चर्खे के सिवाय ग़रीबों के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । इसका मुझे पूरा विश्वास है ।

हमारे स्नातक भी दूसरे सरकारी विद्यापीठों के स्नातकों के समान पण्डित बनना चाहें, तो यह उल्टे न्याय से ही चलाना होगा । जितना ज्ञान प्राप्त करना हो, वे चर्खे को ही केन्द्र मान कर करें । नेति पक्ष रख कर सब को राष्ट्रीय विद्यालय कहलाने का हक़ है, मगर मैं यह पुकार कर कहता हूँ कि साथ ही साथ जो इति पक्ष स्वीकार न करे, तो वह सच्चा राष्ट्रीय विद्यालय नहीं है । देवप्रसाद सर्वाधिकारी ने मुझे अपना अजायबघर दिखलाया और कहा कि—'देखिये यहाँ चर्खा भी रखा है ।' मैंने कहा—'इसमें कुछ भी नहीं है । अनेक चीजों में एक

चर्खा तो भूल जायगा।' जो चर्खे का अर्थ शास्त्र समझते हैं, वे ऐसी भूल में न पड़ेंगे कि, अनेक वस्तुओं में एक हितकर वस्तु चर्खा है। तारे अनेक हैं, मगर सूर्य एक ही है। अनेक राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के तारों में मध्यस्थ सूर्य चर्खा है। इसके बिना विद्यालय नाकाम है पाठशालायें कौड़ी काम की नहीं।

लार्ड अरविन ने सच ही कहा है कि पार्लामेण्ट की मार्फत हमें जितना मिलना हो ले लेवें, यह बात ऐसी है कि इससे इन पर किसी को गुस्सा न होगा, उन्होंने यह बात सद्भाव से की है, उनकी उनके पास दूसरे कुछ की आशा रखना स्वप्नवत है वे तो वीर पुरुष हैं और अपने देश की दृष्टि से ही यह बात करते हैं तो हम क्या अपनी वीरता खो बैठे हैं? हम क्या अपने देश की दृष्टि से नहीं देख सकते? उनके ज्योतिमण्डल में सूर्य है, लन्दन और हमारे में चर्खा। इसमें मेरी भूल हो सकती है, मगर जब तक मेरी यह भूल मुझे मालूम न होवे, यह भावना मुझे प्राणसम प्रिय है। इस चर्खे में देश का अकल्याण करने की ताकत नहीं है, मगर इसके त्याग में देश का नाश है, दुनिया का भी नाश है। कारण यह कि यह सर्वोदय का साधन है और सर्वोदय ही सच्ची बात है। मेरी आँख सर्वोदय की ही दृष्टि से देखती है, भूल करने वाले को मैं देखता हूँ तो मुझे लगता है कि मैं भूल करने वाला हूँ। अगर मैं किसी कामी पुरुष को देखता हूँ तो सोचता हूँ कि एक समय मैं भी वैसा ही था, इसलिये सबको अपने समान समझता हूँ। सब का हित अपनी दृष्टि में रखे बिना मैं विचार नहीं कर सकता, अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक हित यह चर्खा नहीं है। चर्खा शास्त्र तो सर्वोदय-सर्वभूत हितवाद दिखलाता है। तुम पढ़ो तो यही दृष्टि रख कर सीखो, खोज करो तो भी यही दृष्टि रख कर, फिर परिणाम में तुम्हें चर्खा ही दिखाई पड़े, जिस प्रकार सब कुछ में से प्रह्लाद ने राम को ही निकाला,

तुलसीदास को मुरलीधर का दर्शन करते भी राम ही दिखलाई पड़े, वैसे ही मुझे चर्खे के सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं। इसी में तुम्हारे विचार समाप्त होवें, कि इस चर्खे की क्योंकर उन्नति हो। तुम्हारा रसायन ज्ञान इसमें किस प्रकार काम आवेगा, तुम्हारा अर्थशास्त्र क्योंकर इसे बढ़ावेगा, तुम्हारे भूगोल ज्ञान का इसमें क्या उपयोग होगा, इसी प्रका रहें विचार करना है और मैं जानता हूँ कि यह बात हमारे विद्यापीठ में अभी नहीं आई है, मगर इसमें मैं किसी की टीका या निन्दा करना नहीं चाहता, मैं तो अपने दुःख की ज्वाला तुम्हारे आगे रखने बैठा हूँ। यह दुःख ऐसा नहीं है, जो कहा जा सके। इसी आशा से इतना कहा है कि तुम इस दुःख को आज पहिचान सकोगे। इतना समझाने के बाद भी अगर तुम्हें ऐसा लगे कि चर्खे का केन्द्र विद्यापीठ के बाहर है तो विद्यापीठ को भूल जाओ, इस साल मेरा काम चर्खे के सिवाय और कुछ नहीं है। विद्यापीठ का अस्तित्व इसी के लिए है और इसी के लिए मैं आपसे कुछ मांगता हूँ। राजेन्द्र बाबू को विद्यापीठ के लिए भीख मांगनी पड़े, तो यह उनकी शक्ति का अपव्यय है। आप लोग इस विद्यापीठ को सँभालो और राजेन्द्र बाबू से दूसरा काम लो। स्नातकों, तुम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहकर उसका पालन जीवन भर करो, यही मेरी प्रार्थना है।

काशी विद्यापीठ में

विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की सभा सवेरे हुई थी। उसी दिन सांझ को काशी के राष्ट्रीय विद्यापीठ का पदवीदान समारंभ था। इस अवसर पर गांधीजी दीक्षान्त भाषण के लिए निमंत्रित किए गए थे। उन्हें स्नातकों को लक्ष्य करके कुछ कहना था। आचार्य नरेन्द्रदेव

ने जो विद्यापीठ की आत्मा कहे जा सकते हैं, स्नातकों को पदवी देने और डाक्टर भगवानदास का काशी विद्यापीठ के कुलपति का आशीर्वाद मिलने से पहले वैदिक विधि के अनुसार पदवीदान संस्कार से सम्बन्ध रखने वाली होमादि क्रियाओं का आयोजन किया था। इस विधि को देखते ही मन में अपने आप वैदिक काल की स्मृति ताजा हो उठती थी। यद्यपि आज कल के समय में यह विधि और होमादि उन दिनों के समान कहाँ पूर्ण होते हैं या नहीं, इस सम्बन्ध में दो मत हो सकते हैं। मण्डप में प्रवेश करते समय विद्यापीठ के दूसरे अधिकारियों के साथ गांधीजी को भी पीताम्बर पहनाया गया था, इस लम्बे पीले वस्त्र में लिपटे हुए गांधीजी को देख कर लोग अपने को रोक न सके, उनकी खिलखिलाहट से सारा मंडप गूंज उठा। स्नातकों ने जो प्रतिज्ञायें लीं वे संस्कृत में थीं। इन प्रतिज्ञाओं से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नोत्तर प्राचीन काल के विद्यार्थी जीवन के आदर्श और शिक्षा के ध्येय पर प्रकाश डालते हैं, अतएव उन्हें यहां देना अस्थानीय नहीं होगा।

प्रश्न—पितरों के प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—मानव-सन्तान में से न्यायहीनता-दीनता, दुर्बलता और दरिद्रता को हटा कर उनकी जगह बन्धु भाव, आत्मगौरव और सत्-समृद्धि को स्थापित करना।

प्रश्न—ऋषियों के प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—अविद्या को हटा कर विद्या का, अनाचार को हटा कर सदाचार का और स्वार्थ भाव को हटा कर लोक संग्रह भाव का प्रचार करना तथा आर्य सभ्यता का विस्तार करना और अध्यात्म ज्ञान को वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन का आधार बनाना।

प्रश्न—देवों के प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—मनुष्यों में सद्धर्म का प्रचार करना, प्रकृति के शक्ति रूपी देवताओं से मनुष्यों को जो पदार्थ मिलते हैं, उनके संचय को मनुष्य समाज के उपयोग के लिए इष्ट और आपूर्त आदि से सम्पन्न रखना और धर्माश्रम में परमात्मा की भावना करना।

प्रश्न—तुम इन कर्तव्यों का पालन करोगे ?

उत्तर—मैं परमात्मा के दिव्य तेज को साक्षी करके कहता हूं कि मैं इस कर्तव्यों के पालन करने का पूर्ण प्रयत्न करूँगा। आपके आशीर्वाद तथा परमात्मा के अनुग्रह से मेरा प्रयत्न सफल हो।

इस विधि के समाप्त होने पर गांधीजी ने अपना अभिभाषण शुरू किया —

"आज आप लोगों से मैं कोई नई चीज़ कहने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ और मेरे पास कोई नई चीज़ है भी नहीं। मैं ऐसे समय में जो कुछ कहता आया हूँ, करीब-करीब वही इस समय भी कह दिया चाहता हूँ। भाषा में भेद भले हो पर बात वही होगी। मेरा विश्वास दिन प्रति दिन राष्ट्रीय शिक्षा में और राष्ट्रीय विद्यालयों में बढ़ता जाता है। मैं भारत में भ्रमण करते समय सभी राष्ट्रीय विद्यापीठों का परिचय ले चुका हूँ, राष्ट्रीय विद्यालय और विद्यापीठ आज दिन बहुत कम हैं, परंतु जितने हैं, उनमें काशी विद्यापीठ बड़ी संस्था है। संख्या की दृष्टि से नहीं प्रयत्न और गुण की दृष्टि से। इसके लिए किये गए प्रयत्न के साक्षी मुझसे बढ़ कर आप ही लोग हैं।

वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षा का आरम्भ सन् १६२० में हुआ था। यह मैं नहीं कहता कि इसके पहले राष्ट्रीय विद्यालय नहीं थे, परन्तु मैं इस समय उन्हीं राष्ट्रीय विद्यालयों की बात कह रहा हूँ, जिनकी नींव असहयोग आन्दोलन के ज़माने में डाली गई थी। जो कल्पना सन् १६२० में इन राष्ट्रीय विद्यालयों के लिए की गई थी, उसमें पहले के

राष्ट्रीय विद्यालयों की कल्पना से कुछ भेद था, इस कल्पना वाले हम थोड़े हैं और आज जो स्नातक हैं वे भी बहुत थोड़े हैं। अपने भारत भ्रमण में राष्ट्रीय स्नातकों को देखता और उनसे बात चीत कर लेता हूँ। इससे समझ में आया है कि उनमें आत्म विश्वास नहीं है। बेचारे सोचते हैं कि फंस गये हैं। इसलिए किसी तरह निबाह लें; किसी न किसी काम में लग जायँ और पैसा मिले! सभी स्नातकों की नहीं, मगर बहुतों की यही दशा है, उनसे मैं दो शब्द कहना चाहता हूँ। उनको जानना चाहिए कि आत्म विश्वास खोने का कोई कारण नहीं है। स्वराज्य के इतिहास में इन विद्यार्थियों का दर्जा छोटा नहीं रहेगा; ऐसा करना विद्यार्थियों के हाथ में है कि जिससे उनका दर्जा छोटा न रहे। स्नातकों को जो काग़ज का पुर्जा 'प्रमाणपत्र' दिया गया है, वह कोई बड़ी चीज़ नहीं है, वह तो कुलपति के आशीर्वाद की निशानी है, उसमें प्राण प्रतिष्ठा मानकर आप स्नातक उसका संग्रह करें, परन्तु यह हर्गिज़ न सोचें कि उससे आजीविका का सम्बन्ध कर लेंगे वा धन पैदा करेंगे। इन राष्ट्रीय विद्यापीठों का यह ध्येय नहीं है, कि आजीविका का प्रबन्ध किया जाय, अवश्य इसमें आजीविका भी आजाती है, परन्तु आप लोग समझलें कि आप लोग आजीविका प्राप्ति के भाव से इस विद्यापीठ में नहीं आते, कुछ और ही काम के लिए आते हैं। आप लोग राष्ट्र को अपना जीवन समर्पित करने के लिए आते हैं, स्वराज्य का दरवाजा खोलने की शक्ति हासिल करने के लिए आते हैं।

आप स्नातकों ने आज जो प्रतिज्ञा की है, उस पर अगर आप अच्छी तरह ख्याल करेंगे, तो आपको मालूम होगा कि उसमें भी स्वार्पण की बात है, स्वधर्म पालन की बात है। मैक्समूलर ने कहा है कि हिन्दुस्तानी लोग जीवन को धर्म समझते हैं, उनके सामने अधिकार की बात नहीं है, इसका परिचय शास्त्रों से मिलता है। पूर्वजों के इतिहास

से भी यही विदित होता है, जो धर्म का पालन भली भाँति करता है, उसको अधिकार भी मिलता है। मगर अहम्‌भाव स्वीकार करने पर आदमी धर्मभ्रष्ट हो जाता है। अधिकार परमार्थ के काम में लगाना चाहिए।

अगर हम प्राचीन इतिहास को देखें, तो मालूम हो जायगा कि, इस जगत् में जो कुछ बड़ा कार्य हुआ है, वह संख्या के बल से नहीं, किसी विशेष शक्ति द्वारा हुआ है। बुद्ध एक था, मुहम्मद ज़रदुस्त एक था, ईसा एक था, परन्तु ये एक होकर भी अनेक थे, क्यों कि अपने हृदय में राम को साथ रखते थे। अबुबकर ने पैगम्बर से कहा कि दुश्मनों का दल बड़ा है और इस गुफा में सिर्फ दो ही आदमी हैं। पैगम्बर ने कहा—"दो नहीं हम तीन हैं, खुदा भी तो हमारे साथ है।" ये तीन, तीस कोटि से भी अधिक थे, लेकिन वैसा आत्म विश्वास होना चाहिए। आत्म-विश्वास रावण का सा न हो, जो समझता था कि, मेरे समान कोई है ही नहीं। आत्म-विश्वास होना चाहिए विभीषण के ऐसा, प्रह्लाद के ऐसा। उनके जी में यह भाव था कि, ईश्वर हमारे साथ है, इससे हमारी शक्ति अनन्त है। अपने इसी विश्वास को जगाने के लिए, आप स्नातक लोग विद्यापीठ में आते हैं।

गुजरात विद्यापीठ में

गुजरात विद्यापीठ के स्नातकों को आशीर्वाद देते हुए गाँधीजी ने कहा:—

अगर आप यह पूछें कि, लाहौर में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास कराने में भाग लेकर और उसमें सविनय भंग की शर्त डाल कर मैंने जो कुछ किया, उसका हम क्या अर्थ लगावें, तो मुझे आश्चर्य

न होगा। मैं यहाँ कई बार कह चुका हूँ कि विद्यापीठ में हमें संख्या की नहीं, बल्कि शक्ति की ज़रूरत है। अगर मुट्ठी भर आदमी भी अपने को सौंपे हुए काम को ठीक तरह करें, तो उनकी शक्ति से इच्छित काम पूरा हो सकता है। इसी प्रकार के विश्वास के कारण मैंने सविनय कानून भङ्ग और पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पेश करने का साहस किया था।

कलकत्ता के प्रस्ताव में 'डोमिनियन स्टेट्स' पाने की प्रतिज्ञा थी। अगर वह प्रतिज्ञा सच्ची थी, तो १९२९ के अन्त में 'डोमिनियन स्टेट्स न मिलने पर, चाहे जितना दुःख और अपवाद सहकर भी लाहौर का प्रस्ताव पास करना हमारा धर्म हो पड़ा था। आज जब कि 'डोमिनियन स्टेट्स' स्वातन्त्र्य के विरोध में उपस्थित किया जाता है, मेरे समान 'डोमिनियन स्टेट्स' का पक्षपाती भी स्वातन्त्र्य की ही बात करेगा। अर्ल-रसेल के एक वाक्य ने हमें सचेत कर दिया है। जब उन्होंने कहा कि 'डोमिनियन स्टेट्स' एक प्रकार की स्वतन्त्रता ही है और उसे पाने में भारत को बहुत समय लगेगा, तो हमें इशारे में समझ जाना चाहिए कि लार्ड इरविन और वेज वुडबेन जिस 'डोमिनियन स्टे ्स' की बात करते हैं, वह दूसरे उपनिवेशों से बिल्कुल जुदा है। कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में जो 'डोमिनियन स्टेट्स' है, उसमें तो मात्र स्वतन्त्रता का ही सम्बन्ध है। जब तक वे साम्राज्य के साथ रहने में अपना फायदा समझते हैं, तब तक उनके साथ रहते हैं और लाभ न देखने पर अपना सम्बन्ध छुड़ा सकते हैं। मैंने जब-जब 'डोमिनियन स्टेटस' की बात की है, तब-तब इसी आशय को ध्यान में रख कर की है, इससे कम किसी औपनिवेशिक पद की मैंने कभी कल्पना तक नहीं की थी। लेकिन आज जब कि हमारे इच्छित 'डोमिनियन स्टेट्स' का अर्थ इंगलैंड के प्रधान मन्त्री अतिशय संकुचित बता रहे हैं, तब तो उसका

यही मतलब हुआ कि अब तक लोहे की बेड़ी पहनते थे, अब से आगे सोने या हीरे की पहनना। हमारी दृष्टि में इसका क्या मूल्य हो सकता है ? लेकिन दुर्भाग्य से पूर्ण स्वराज्य या मुकम्मल आज़ादी की बात ही से भय खाते हैं। हमारी नज़र में उसकी चर्चा ही मूर्खता पूर्ण है, और हममें से कई भयभीत होकर कह रहे हैं कि ब्रिटेन के साथ का सम्बन्ध टूट जाने से भारत वर्ष में मारकाट मच जायगी, अराजकता फैलेगी। तो ठीक है, मैं सदा से अहिंसा का सम्पूर्ण उपासक, उसमें पूरा विश्वास रखने वाला रहा हूँ, फिर भी मुझे पुनः एक बार यह सुनाना होगा कि अगर मुझे अराजकता तथा खून खराबा और गुलामी में से कोई एक बात चुन लेने को कहा जाय तो मैं कहूँगा कि मुझे अराजकता, अन्धा-धुन्धी या मारकाट का साक्षी होना पसन्द है। हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे का गला काटते हुए और खून की नदियां बहाते हुए देखना मंजूर है मगर सोने की बेड़ीवाला गुलामी का साक्षी रहना मंजूर नहीं। सोने की बेड़ियां पहनने पर तो कभी आज़ादी मिलेगी ही नहीं। लोहे की बेड़ी अलबत्ता हमेशा चुभा करेगी और इससे उसे निकाल डालने की इच्छा होगी, लेकिन अगर वह सोने या हीरे की हुई, तो वह चुभेगी नहीं और इस कारण हम उसे कभी निकाल ही न सकेंगे। इसलिए अगर हम गुलामी की जञ्जीर पहिनने के लिए ही जन्मे हैं, तो ईश्वर से कहूँगा कि हे भगवन्! इन बेड़ियों को लोहे की ही बनाये रखना, जिससे मैं हमेशा प्रार्थना किया करूँ कि किसी न किसी दिन तो ये बेड़ियां कटेंगी।

अतः हमने जो प्रस्ताव किया, वह अच्छा ही हुआ है। मैं मान लेता हूँ कि यहां आए हुए सब लोग पूर्ण स्वराज्यवादी हैं। दूसरे लोग भले ही अफगानों के हमले की बात करके चौंकें। मैं तो कहता हूँ कि अफगानिस्तान कल के बदले आज ही क्यों न हमला करे, एक बार इस सरकार की गुलामी से तो छूट जांय, तो फिर भले न

अफगान हमला करें, उन्हें हम देख लेंगे। लेकिन मैं तो अहिंसा का पुजारी ठहरा। मुझे यह विश्वास है कि सविनय कानून भंग द्वारा हम बगैर खून की नदी बहाये ही स्वतन्त्रता पा सकेंगे; और ऐसा स्वराज्य कायम कर के चला सकेंगे जो और कहीं नहीं चला है। सम्भव है, यह छोटे मुँह बड़ी बात हो लेकिन अगर आप सब में यह श्रद्धा हो कि, हम सत्य और शान्ति के रास्ते ही स्वराज्य पा सकेंगे, तो यह शुभ ही शुभ है। यह वस्तु दूर भी नहीं है। इसी साल हमें ऐसी स्थिति पैदा कर देनी चाहिए। जवाहरलाल के समान नवयुवक राष्ट्रपति हमें बार-बार नहीं मिलेंगे। भारत में युवकों की कमी नहीं है, लेकिन जवाहरलाल के मुकाबिले में खड़े होने वाले किसी नवजवान को मैं नहीं जानता। इतना मेरे दिल में उनके लिए प्रेम है; या कहिये कि मोह है। लेकिन यह प्रेम या मोह उनकी शक्ति के अनुभव पर स्थापित है; और इसीलिए मैं कहता हूँ कि, जब तक उनके हाथ में लगाम है, हम अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लें तो कितना अच्छा हो! लेकिन हम तभी कुछ कर सकेंगे, जब मुझे आप लोगों की पूरी-पूरी मदद मिलेगी। मुझे आशा है कि स्वराज्य के भावी संग्राम में आप लोग सब से आगे होंगे। अगर नौ वर्षों का यहाँ का आपका अनुभव सफल हुआ हो और आपको अपने आचार्यों के प्रति सच्चा आदर तथा प्रेम हो, तो उसे बताने का, आप में जो जौहर हो, उसे प्रकट करने का समय आगे आ रहा है।

लेकिन, अब जो काम आवेगा वह बहुत कठिन होगा। वह काम जेलों में जाने का न होगा। जेलों में जाना तो बहुत आसान है; और हमारी अपेक्षा खूनी, चोर, लुटेरों वगैरा के लिए अधिक आसान है, क्यों कि उन्हें जेल में रहना आता है। वे लोग तो वहाँ पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष रह कर अपना घर बना लेते हैं; किन्तु इससे उनके द्वारा देश की कोई सेवा नहीं होती। मैं तो आप से जेल जाने और फाँसी पर लटकने की

योग्यता चाहता हूँ। यह योग्यता आत्म शुद्धि से मिल सकती है। १९२१ में हमने आत्म शुद्धि से प्रतिज्ञा की थी, आज मैं आप से तसोधिक आत्म शुद्धि की आशा रखता हूँ। आज देश में, वातावरण में, जहाँ तहाँ हिंसा है। लेकिन, ऐसी हिंसा से जल कर खाक हो जाने की शक्ति आप में होनी चाहिए। अगर आप अपने में सत्य और अहिंसा को मूर्तिमन्त बनाना चाहते हैं, तो मेरी गिरफ्तारी के बाद—अगर मैं गिरफ्तार किया गया, यदि देश में खून-खराबी और मार-काट चल निकले, तो उस समय मैं यह न सुनना चाहूँगा कि आप घर में दुबके बैठे रहे या आपने सुलगाने वाले के लिए बत्ती जला दी या मारकाट या लूट-खसोट में भाग लिया। अगर ये समाचार मेरे कानों तक पहुँचे, तो मुझे मरणान्तक दुःख होगा। जेल में जाने से भी अधिक कठिन बात तो यह है कि आप पूर्ण स्वाधीनता के सच्चे सिपाही बनने पर न घर में बैठे रहेंगे और न हिंसा में शामिल होंगे। अगर घर में छिप रहेंगे, तो नामर्द कहे जायँगे और हिंसा में शामिल होंगे, तो आपकी अप्रतिष्ठा होगी। चारों ओर जो लपटें उठ रही हैं, उनमें गिर कर और खाक होकर ही उन्हें बुझाना हमारा कर्त्तव्य हो पड़ेगा। आपकी अहिंसा की प्रतिज्ञा ही ऐसी है और गुजरात में आपकी साख भी कुछ ऐसी ही जम गई है कि, वहाँ के हिंसावादी भी आप से यही आशा रखेंगे, जो मैं कह रहा हूँ। व्यभिचारी आदमी संन्यासी से संयम और संन्यास की आशा रखता है। इसी तरह हिंसावादी भी आपके सत्य और अहिंसा के मार्ग को छोड़ने पर आपकी निंदा करेंगे। एक वेश्या भी जब किसी भले आदमी की सोहबत करती है, तो उसे व्यभिचार न करने की चेतावनी देती है। लेकिन, मान लीजिये कि हमारे हिंसावादी इनसे भी खराब हों, वे आप को हिंसा में शामिल करें या होने दें, तो भी आखिर में तो वे आपकी निंदा ही करेंगे।

अतः आप लोग जेल के लिए बखूबी तैयार रहें, लेकिन जिस दिन हिन्दुस्तान में सविनय कानून भंग का समय आ पहुँचेगा, उस दिन आपको जेल कोई न ले जायगा, बल्कि धधकती हुई आग को बुझाने की आप से आशा की जायगी। यह आशा अपने आप को उस में होम कर ही आप पूरी कर सकते हैं, किसी दूसरी तरह से नहीं कर सकेंगे। अगर आप उसमें स्वाहा न हो सकें, तो निश्चय जानिये कि जेल जाने के लिए आप योग्य ही न थे। इसलिए अगर आपके मन में कहीं थोड़ी सी भी हिंसा छिपी पड़ी हो, तो उसे निकाल बाहर करना और रचनात्मक कार्य-क्रम में व्यस्त रहना।

सविनय अवज्ञा किस प्रकार की होगी, सो तो मैं नहीं जानता। लेकिन, कुछ न कुछ तो करना ही होगा। मैं तो रात दिन इसी चीज़ की रट लगाये हूं, क्यों कि सविनय भंग के प्रकार की शोध करने की खास जिम्मेदारी मेरी ही होगी। सत्य और अहिंसा का बाल बांका तक न हो और सविनय भंग भी हो सके, इस पहेली को मैं ही बूझ सकता हूँ।

यह सब मैं आप को झूठा उत्साह दिलाने के लिए नहीं कहता, जाग्रत करने के लिये कहता हूँ, इसे ठीक तरह समझ लेंगे तो मेरी बात आपके हृदय में घर कर जायगी। यह न समझिये कि कल ही कुछ हो जायगा, यद्यपि सत्य और अहिंसा का अनुसरण करते हुए सविनय भंग करने के लिये मैं अधीर हो रहा हूँ। लेकिन यदि सत्य और अहिंसा को छोड़े बिना सविनय भंग न हो सकता हो तो सैकड़ों वर्षों तक उसकी राह देखने का धैर्य मुझ में है। यह धीरज और अधीरता, दोनों, मेरी अहिंसा के फल हैं—अधीरता इसलिये कि अगर हममें सम्पूर्ण अहिंसा हो तो स्वराज्य कल ही क्यों न मिले? धीरज इसलिये कि बिना अहिंसा के स्वराज्य कैसे मिल सकता है? दोनों बातों का मतलब यह है कि

दुनियाँ के और हिस्सों के लिये चाहे जो हो, भारतवर्ष के लिये तो अहिंसा का मार्ग ही छोटे से छोटा है। इस मार्ग से पूर्ण स्वाधीनता पाने में आप साथी हों, सहायक हों, यही मेरी आप सब से विनती है।

निश्चित परामर्श

युक्तप्रान्त के दौरे में प्रयाग के विद्यार्थियों की ओर से मुझे नीचे लिखा पत्र मिला था :—

'यङ्ग इण्डिया' के अभी हाल के एक अङ्क में आमीण सभ्यता पर आप का जो लेख छपा था, उसके संबन्ध में हमारा निवेदन है कि पढ़ाई खतम कर चुकने पर गाँवों में जा बसने की आपकी सलाह को हम दिल से मानते हैं, लेकिन आपका यह लेख हमारी रहनुमाई के लिए काफ़ी नहीं है। हम चाहते हैं कि हमसे जिस काम की आशा रखी जाती है उसकी कोई निश्चित रूप रेखा हमारे सामने हो। अनिश्चित और बेमतलब बातें सुन-सुन कर तो अब हमारे कान पक गये। अपने देश भाइयों के लिए कुछ कर गुज़रने के लिये हम तड़प रहे हैं, लेकिन हम नहीं जानते कि क्या करें कैसे शुरू करें और अपनी मेहनत के फल स्वरूप किन लाभों की भविष्य में यथासंभव आशा रखें। आपने १४) से लगाकर १५०) तक की आमदनी का जो ज़िक्र किया है, उसे पाने के लिए हम किन साधनों का सहारा लें? आशा है विद्यार्थियों की सभा में या अपने प्रतिष्ठित अख़बार में आप इन बातों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

जो भी विद्यार्थियों की एक सभा में मैं इस विषय की चर्चा कर चुका हूँ और यद्यपि इन स्तम्भों द्वारा विद्यार्थियों के लिए एक निश्चित कार्यक्रम प्रकट हो चुका है, तो भी पहले बताई हुई योजना को फिर से यहाँ दृढ़ता पूर्वक पेश कर देना अनुचित न होगा।

पत्र लेखक जानना चाहते हैं कि अभ्यास पूरा करने के बाद वे क्या कर सकते हैं। मैं उनसे कहा चाहता हूँ कि बड़ी उम्र के विद्यार्थी, यानी कॉलेजों के तमाम विद्यार्थी कॉलेजों में रहते और पढ़ते हुए भी फुरसत के वक्त गाँवों में जाकर काम करना शुरू कर दें। ऐसों के लिए मैं नीचे एक योजना देता हूँ।

विद्यार्थियों को अपने अवकाश का सारा समय ग्राम सेवा में बिताना चाहिए, इस बात को ध्यान में रख कर लकीर के फकीर बनने के बदले वे अपने मदरसों या कॉलेजों के पास पड़ने वाले गाँवों में चले जायँ और गाँव वालों की हालत का अभ्यास करके उनके साथ दोस्ती पैदा करें। इस आदत के कारण वे गाँव वालों के निकट सम्पर्क में आते जायेंगे, और बाद में जब कभी वे कायमी तौर पर वहाँ बसने लगेंगे तो लोग एक मित्र की हैसियत से उनका स्वागत करेंगे न कि अजनबी समझ कर उन पर शक लायेंगे। लम्बी छुट्टियों के दिनों में जाकर विद्यार्थीगण गाँवों में रहें, बड़ी उम्र के नौजवानों के लिए मदरसे या कक्षायें खोलें, गाँव वालों को सफाई के नियम सिखायें और उनकी मोटी-मोटी बीमारियों का इलाज करें। वे उनमें चर्खे को दाखिल करें और अपने फाज़िल वक्त के एक एक मिनट को अच्छी तरह बिताने की उन्हें सिखावन दें। इस काम के लिए विद्यार्थियों और शिक्षकों को अपने अवकाश के सदुपयोग सम्बन्धी विचारों को बदल डालना पड़ेगा। छुट्टी के दिनों में अविचारी शिक्षक अकसर विद्यार्थियों को नया-नया सबक याद कर लाने को कहते हैं। मेरी राय में यह एक बहुत ही बुरी आदत है। छुट्टी के दिनों में तो विद्यार्थियों के दिमाग रात दिन की दिनचर्या से मुक्त रहने चाहिएँ, जिससे वे अपनी मदद आप कर सकें और मौलिक उन्नति भी कर लें। जिस ग्राम सेवा का मैंने ज़िक्र किया है, वह मनोविनोद और नये-नये अनुभव प्राप्त करने का एक अच्छे

से अच्छा साधन है। जाहिर है कि पढ़ाई खतम करते ही जी जान से ग्राम सेवा में लग जाने के लिए इस तरह की तैयारी सब से उम्दा है।

ग्राम सेवा की पूरी पूरी योजना का विस्तार से उल्लेख करने की अब कोई ज़रूरत नहीं है। छुट्टियों में जो कुछ किया था, उसी को आगे क़ायमी बुनियाद पर चुन देना है। इस काम की सहायता के लिए गाँव वाले भी हर तरह तैयार मिलेंगे। गाँवों में रहकर हमें ग्राम्य-जीवन के हर पहलू पर विचार और अमल करना है-क्या आर्थिक, क्या आरोग्य सम्बन्धी, क्या सामाजिक और क्या राजनैतिक। आर्थिक आफ़त को मिटाने के लिए तो बहुत हद तक बिला शक, चर्खा ही एक राम-बाण उपाय है। चर्खे के कारण तत्काल ही गांव वालों की आमदनी तो बढ़ती ही है, वे बुराइयों से भी बच जाते हैं। आरोग्य सम्बन्धी बातों में गन्दगी और रोग भी शामिल हैं। इस बारे में विद्यार्थियों से आशा की जाती है कि वे अपने हाथों काम करेंगे और मैले तथा कूड़े कर्कट की खाद बनाने के लिए उन्हें गढ़्ढों में पूरेंगे, कुओं और तालाबों को साफ़ रखने की कोशिश करेंगे, नये नये बांध बनावेंगे, गन्दगी दूर करेंगे और इस तरह गाँवों को साफ़ कर उन्हें अधिक रहने योग्य बनावेंगे। ग्राम-सेवक को सामाजिक समस्याएं भी हल करनी होंगी और बड़ी नम्रता से लोगों को इस बात के लिए राजी करना होगा कि वे बुरे रीति-रिवाजों और बुरी आदतों को छोड़ दें। जैसे, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, बे जोड़ विवाह, शराब खोरी, नशाबाजी और जगह-जगह फैले हुए हर तरह के वहम और अन्ध विश्वास। आखिरी बात राजनैतिक सवालों की है। इस सम्बन्ध में ग्राम सेवक गांव वालों की राजनैतिक शिकायतों का अभ्यास करेगा, और उन्हें इस बात में स्वतंत्रता, स्वावलम्बन और आत्मोद्धार का महत्व सिखायेगा। मेरी राय में नौजवानों-बालिगों के लिए इतनी तालीम काफ़ी होगी। लेकिन ग्राम सेवक के

काम का यहीं अन्त नहीं होता। उसे छोटे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और उनकी सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेना होगा और बड़ों के लिए रात्रिशालाएं चलानी होंगी। यह साहित्यक शिक्षा पूरे पाठ्य क्रम का एक मात्र अङ्ग होगी और ऊपर जिस विशाल ध्येय का जिक्र किया है, उसे पाने का एक जरिया भर होगी।

मेरा दावा है कि इस सेवा के लिए हृदय की उदारता और चारित्र्य की निष्कलंकता दो जरूरी चीजें हैं। अगर ये दो गुण हों तो और सब गुण अपने आप मनुष्य में आ जाते हैं।

आखिरी सवाल जीविका का है। मज़दूर को उसकी लियाकत के मुताबिक मजदूरी मिल ही जाती है। महासभा के वर्तमान सभापति प्रांत के लिए राष्ट्रीय सेवा संघ का संगठन कर रहे हैं। अखिल भारत चर्खा संघ एक उन्नतिशील और स्थायी संस्था है। सच्चरित नवयुवकों के लिए उसके पास सेवा का अनन्त क्षेत्र मौजूद है। चरितार्थ भर के लिए वह गारन्टी देती है। इससे ज्यादा रकम वह दे नहीं सकती। अपना मतलब और देश की सेवा दोनों एक साथ नहीं हो सकते। देश की सेवा के आगे अपनी सेवा का क्षेत्र बहुत ही संकुचित है। और इसी कारण हमारे गरीब देश के पास जो साधन हैं, उनसे बढ़कर जीविका की गुञ्जाइश नहीं है। गांवों की सेवा करना स्वराज्य कायम करना है। और तो सब 'सपने की सम्पत' है।

छुट्टियों में विद्यार्थी क्या करें ?

"इस कालेज के छात्रालय में हरिजन-सेवा का अभी तक केवल एक काम हुआ है। यहाँ पर विद्यार्थियों की बची हुई जूठन भंगियों को खाने के लिए मिला करती थी, किन्तु ८ मार्च से प्रत्येक को रोटी, दाल,

इत्यादि दोनों बाट दी जाती है । भंगी इसके विरुद्ध हैं । वे कहते हैं, कि विद्यार्थियों की जूठन में घी होता था, जिससे अब हम वंचित रह जाते हैं ! विद्यार्थियों के लिए यह तो कठिन है, कि वे उन्हें घी भी दिया करें । वे लोग कहते हैं, कि हमारे बाप दादा पहले से ही जूठन खाते आये हैं, इसलिए हमारा भी जूठन खाना कर्तव्य है । हमें तो जूठन ही खाने में आनन्द प्राप्त होता है । इसके अलावा दावतों में और विवाहों में हमको इतनी ज्यादा जूठन मिलती है जिससे हम कम से कम पन्द्रह दिन तक खाने का काम चला सकते हैं, हमें जूठन के बराबर भोजन तो वे लोग दे नहीं सकते, वहाँ पर तो हम लोग जूठन अवश्य ही लिया करेंगे । उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जूठन न मिलने पर हमें भारी हानि होगी और यदि छात्रालय में जूठन न मिला करेगी, तो अन्य किसी स्थान पर खा लिया करेंगे । हम अपनी आदत कैसे छोड़ सकते हैं ।"

हमारे छात्रालय में इसका प्रबन्ध इस प्रकार हो गया है : जूठन के लिए एक बर्तन अलग रखा हुआ है । वह जूठन जानवरों को दे दी जाती है । इससे हरिजनों को विद्यार्थियों की जूठन खाने का कोई अवसर नहीं मिलता, जिससे वे एक प्रकार का उपद्रव कर रहे हैं, अतः आपसे प्रार्थना है कि उन्हें समझाने के लिए आप ऐसी बातें लिखें, जिससे उन्हें सन्तोष हो जाय ।

परीक्षा का समय निकट होने के कारण हम विद्यार्थियों ने हरिजनोद्धार के लिए बहुत थोड़ा कार्य किया है । आपके कथनानुसार एक रात्रि पाठशाला स्थापित करने का भी प्रबन्ध हो रहा है । आशा है, इसमें हमें सफलता मिलेगी । हम आपको आशा दिलाते हैं कि परीक्षा के उपरान्त हरिजन-सेवा के लिये हम अवश्य प्रयत्न करेंगे । आप उपदेश दीजिये कि हम क्या करें, आपके उपदेश के हम बहुत इच्छुक हैं ।"

यह पत्र मुझे देहरादून से मिला है। भंगी जूठन मांगने का हठ कर रहे हैं, तो इससे निराश होने का कोई कारण नहीं। भंगी भाई-बहनों के इस पतन के कारण हमीं हैं, जैसा हमने बोया वैसा काट रहे हैं। विद्यार्थी जिस तरह काम कर रहे हैं उसमें भी दोष है। भंगी अगर हमारे भाई बहन हैं अर्थात् जैसे हम हैं वैसे ही अगर वे हैं तो यह ठीक नहीं, कि उन्हें तो सूखी रोटी और दाल दें और हम दूध, घी और मिठाइयां उड़ावें, ऐसा नहीं होना चाहिये। जो भी भोजन विद्यार्थियों के लिए तैयार हुआ करे, उसी में से प्रथम भाग भंगी के लिए रख दिया जाय। फिर भंगी को शिकायत करने का कोई मौका ही न रह जायेगा।

विद्यार्थी कहते हैं—"ऐसा करने से खर्च बढ़ जायगा और हम उसे बरदाश्त न कर सकेंगे।" मैं पूछता हूँ जूठन बचती क्यों है ? थाली में जूठन छोड़ने में सभ्यता है, शायद ऐसा कुछ ख्याल जम गया है, उस ख्याल को दूर करना होगा। थाली में उतना ही भोजन परोसवाया जाय जितना आसानी से खा सकें, इसी में सभ्यता है। थाली में जूठन छोड़ देना तो असभ्यता है।

और भी एक बात है। भारतीय विद्यार्थियों का मैं कुछ परिचय रखता हूँ। वे प्रायः शौकीनी और चटोरपने में अधिक पैसे खर्च कर डालते हैं। भंगी के भाग का जितना रखा जायगा, उसके मूल्य से भी अधिक पैसे विद्यार्थीगण सादगी ग्रहण करने से बचा लेंगे।

"विद्यार्थी जीवन त्याग और संयम सीखने के लिए है।" इस महान् सत्य को छोड़ कर जो विद्यार्थी भोग-विलास में पड़ जाते हैं, वे अपना जीवन बरबाद कर देते हैं और अपने को तथा समाज को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इस दरिद्र देश में तो संयत जीवन और भी अधिक आवश्यक है। यदि समस्त विद्यार्थी इस शक्ति को हृदयंगम करलें तो

भंगियों का भाग उदारता पूर्वक निकाल देने पर भी वे अपने लिए अधिक पैसे बचा लेंगे।

इस विषय में यह कहना भी आवश्यक है, कि भंगी भाइयों के लिए शुद्ध भोजन रखकर ही विद्यार्थीगण अपने को कृतकृत्य न मानलें। उनसे प्रेम करें, उन्हें अपनावें, उनके जीवन में अपने को ओत प्रोत कर दें। पाखाना इत्यादि की सफ़ाई का उत्तम प्रबन्ध और उनकी बुरी आदतें छुड़ाने का भरसक प्रयत्न करें।

दूसरा प्रश्न यह है कि विद्यार्थी गर्मियों की छुट्टियों में क्या-क्या हरिजन सेवायें करें। करने के लिये तो बहुत काम है, पर नमूने के तौर पर मैं यहाँ कुछ लिखता हूँ—

१—रात्रि पाठशालायें और दिवस पाठशालायें चला कर हरिजन बालकों को पढ़ाना।

२—हरिजनों की बस्तियों में जाकर उनकी सफाई करना, हरिजन चाहें तो इसमें उनकी भी मदद लेना।

३—हरिजन बालकों को देहात के इर्दगिर्द ले जाना और उन्हें प्रकृति निरीक्षण कराना तथा स्थानीय इतिहास और भूगोल का साधारण ज्ञान कराना और उनके साथ खेलना।

४—रामायण और महाभारत की सरल कथायें उन्हें सुनाना।

५—उन्हें सरल भजनों का अभ्यास कराना।

६—हरिजन बालकों के शरीर का मैल साफ़ करना, उन्हें स्नान कराना और स्वच्छता से रहने का सबक सिखाना।

७—हरिजनों को कहाँ क्या कष्ट है और उनका निवारण कैसे हो सकता है, इसका विवरण-पत्र तैयार करना।

८—बीमार हरिजनों को दवा-दारू देना।

करने के लिये और भी ऐसे बहुत से काम हैं, जिन्हें विचारशील विद्यार्थी स्वयं सोच सकते हैं।

जैसे हरिजनों में काम करने की आवश्यकता है, वैसे ही सवर्णों में भी है। उनका अज्ञान दूर करना, उनमें अस्पृश्यता-विषयक साहित्य का प्रचार करना इत्यादि काम वे छुट्टियों में कर सकते हैं। हरिजनों के लिए कहाँ कितने कुएँ, शालाएँ, तालाब, मंदिर आदि खुले हैं और कहाँ नहीं इसका भी पूरा ब्योरा तैयार करना।

यह सब काम एक पद्धति से संगठित रूप में और नियम पूर्वक किया जाय तो छुट्टी समाप्त होने तक हरिजनों की भारी सेवा हो सकती है। काम छोटा हो या बड़ा, नियम पालन तो सभी में आवश्यक है। आज प्रारम्भ किया, कल छोड़ दिया, तो इससे कोई लाभ होने का नहीं। निश्चयपूर्वक नियमानुसार चाहे थोड़ा ही काम क्यों न किया जाय, उससे महान परिणाम पैदा हो सकता है। प्रत्येक विद्यार्थी अपने कार्य का हिसाब रखे और अन्त में सारे कार्य की रिपोर्ट तैयार करके प्रान्तीय हरिजन-सेवक संघ को भेज दे। दूसरे विद्यार्थी कुछ करें या न करें, पर उन विद्यार्थियों ने मुझे लिखा है, उनसे तो मैं अवश्य ही ऐसी आशा रखूंगा।

नवयुवकों के लिए लज्जा की बात

समाचार-पत्र के एक सम्वाददाता ने मुझे हाल ही में यह सूचित किया है कि हैदराबाद (सिन्ध) में दहेज की मांग और के अधिक बढ़ती जाती है। इम्पीरियल टेलीग्राफ़ इंजीनियरिङ्ग सर्विस के एक कर्मचारी ने २०००) की दहेज की रकम तय करके विवाह के अवसर पर नक़द रुपया लिया है, इसके अतिरिक्त और भी ऐसी ही शर्तें साड़ी या

शादी के अन्य-अन्य अवसर पर लेने का रिवाज है, कोई भी विवाह सम्बन्ध में अगर दहेज की शर्त रखता है तो अपनी शिक्षा तथा अपने देश को अप्रतिष्ठित करता है। इस प्रान्त में युवकों का आन्दोलन हो रहा है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि ऐसे आन्दोलन इस सम्बन्ध में होते तो अच्छा होता। ऐसी सभायें अपने वास्तविक रूप में रह कर कुछ लाभ के बदले स्वयं हानिप्रद सिद्ध होती हैं। सार्वजनिक आन्दोलन के ये कभी-कभी सहायक होते हैं, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि युवकों को देश के ऐसे आन्दोलन में पर्याप्त अधिकार है। ऐसे कामों में यदि काफी सावधानी न रखी जाय तो अधिक सम्भव है कि हमारे युवकों के अन्दर संतोष का भाव न पैदा हो। दहेज की प्रथा तोड़ने के लिए जनता का एक मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और ऐसे युवक जो अपने हाथों को ऐसे दहेज से अपवित्र करते हों, उन्हें अपने समुदाय से निकाल देना चाहिये। कन्याओं के मा-बाप को अँगरेज़ी उपाधियों से दूर रहना चाहिए और अच्छे युवक और युवतियों को बचाने के लिए थोड़ा अपने समाज के प्रतिबन्धों से भी बाहर जाना चाहिए।

सिन्ध का अभिशाप

माता पिता को अपनी पुत्रियों को इस तरह की शिक्षा देनी चाहिए, जिससे वे इस योग्य बनें कि ऐसे युवक से शादी करना अस्वीकार कर सकें, जो शादी के बदले दहेज चाहते हों। इतना ही नहीं, बल्कि वे आजन्म अविवाहित रह सकें, इसके अपेक्षा कि वे ऐसी विनाशकारी शर्तों के साथ शादी करें।

सिन्ध प्रान्त के आमिल लोग शायद वहाँ की दूसरी जातियों की अपेक्षा अधिक सभ्य समझे जाते हैं। लेकिन इसके बावजूद भी उनके अन्दर कुछ ऐसी बुराइयाँ हैं, जिनका कि वे एकाधिकार रखते हैं। इनमें

देती लेती की प्रथा कम विनाशकारी नहीं है । सिन्ध की पहली ही यात्रा में मेरा ध्यान इस बुराई की ओर आकर्षित हुआ, और मैं आमिल लोगों से इस विषय पर बात करने के लिए आमन्त्रित किया गया, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रथा को मिटाने के लिए कुछ कार्यवाही की गई, लेकिन फिर भी कोई ऐसे समाज या संघ की स्थापना नहीं की गई है, जो इस प्रथा को समूल नष्ट कर सके । आमिल लोगों की एक मिश्रित छोटी समुदाय है । इस प्रथा की बुराई को सभी स्वीकार करते हैं, उन्हीं में मुझे एक भी ऐसा आमिल नहीं मिला जो इस जंगली प्रथाको मिटाने की चेष्टा करे,इस प्रथाने जड़ जमाली है, क्योंकि यह शिक्षित आमिल नवयुवकों में फैली है । उनकी रहन सहन का व्यय इतना अधिक है कि वे उसे सुगमता से नहीं पूरा कर सकते हैं और इसलिए अपनी विचार शक्ति को सर्वथा खोदिया है, फलतः विवाह उनके लिए एक बाजारू सौदा होगया है, और यह बुरी आदत उनकी जातीय उन्नति में बहुत बाधक हो रही है, जिसके अभाव में वे अपने मुल्क और जिला को अधिक उन्नतिशील बना सकते ।

पढ़े लिखे आमिल युवक केवल इसी कारण युवतियों के मा बाप से पैसा चूसने में समर्थ होते हैं, क्योंकि जनता इसके विरुद्ध आवाज़ नहीं उठाती । इसका आन्दोलन स्कूल और कालेजों तथा लड़कियों के मा बाप द्वारा होना चाहिए । विवाह में वर और कन्या की सम्मति और प्रेम ही सबसे आवश्यक है ।

एक युवक की कठिनाई

नवयुवकों के लिए 'हरिजन' में मैंने जो लेख लिखा था, उस पर एक नवयुवक, जिसने अपना नाम गुप्त ही रखा है, अपने मन में

उठे एक प्रश्न का उत्तर चाहता है। यों गुमनाम पत्रों पर कोई ध्यान न देना ही सबसे अच्छा नियम है, लेकिन जब कोई सारयुक्त बात पूछी जाय, जैसी कि इसमें पूछी गई है, तो कभी कभी मैं इस नियम को तोड़ भी देता हूँ।

'आपके लेखों को पढ़कर मुझे सन्देह होता है कि आप युवकों के स्वभाव को कहाँ तक समझते हैं। जो बात आपके लिए सम्भव हो गई है, वह सब युवकों के लिए सम्भव नहीं है। मेरा विवाह हो चुका है - इतने पर भी स्वयं तो संयम कर सकता हूँ, लेकिन मेरी पत्नी ऐसा नहीं कर सकती। बच्चे पैदा हों, यह तो वह नहीं चाहती, लेकिन विषयोपभोग करना चाहती है। ऐसी हालत में, मैं क्या करूँ ? क्या यह मेरा फ़र्ज नहीं है कि मैं उसकी भोगेच्छा को तृप्त करूँ ? दूसरे जरिये से वह अपनी इच्छा पूरी करे, इतनी उदारता तो मुझमें नहीं है। फिर अखबारों में मैं जो पढ़ता रहता हूँ, उससे मालूम पड़ता है कि विवाह सम्बन्ध कराने और नवदम्पतियों को आशीर्वाद देने में भी आपको कोई आपत्ति नहीं है। यह तो आप स्वयं जानते होंगे, या आपको जानना चाहिए कि वे सब उस ऊँचे उद्देश्य से ही नहीं होते, जिसका कि आपने उल्लेख किया है।''

पत्र लेखक का कहना ठीक है। विवाह के लिए उम्र, आर्थिक स्थिति आदि की एक कसौटी मैंने बना रखी है। उसको पूरा करके जो विवाह होते हैं, मैं उनकी मंगल--कामना करता हूँ। इतने विवाहों में मैं शुभ कामना करता हूँ, इससे सम्भवतः यही प्रगट होता है कि देश के युवकों को इस हद तक मैं जानता हूँ कि यदि वे मेरा पथ-प्रदर्शन चाहें तो मैं वैसा कर सकता हूँ।

इस भाई का मामला मानों इस तरह का एक नमूना है, जिसके कारण यह सहानुभूति का पात्र है। लेकिन सम्भोग का एक मात्र उद्देश्य

प्रजनन ही है, यह मेरे लिए एक प्रकार से नई खोज है। इस नियम को जानता तो मैं पहले से था, लेकिन जितना चाहिये उतना महत्व इसे मैंने पहले कभी नहीं दिया था, अभी हालतक मैं इसे खाली पवित्र इच्छा मात्र समझता था लेकिन अब तो मैं इसे विवाहित जीवन का ऐसा मौलिक विधान मानता हूँ कि यदि इसके महत्व को पूरी तरह मान लिया जाय तो इसका पालन कठिन नहीं है। जब समाज में इस नियम को उपयुक्त स्थान मिल जायगा तभी मेरा उद्देश्य सिद्ध होगा। क्योंकि मेरे लिए तो यह एक जाज्वल्यमान विधान है; जब हम इसका भंग करते हैं तो उसके दण्ड स्वरूप बहुत कुछ भुगतना पड़ता है। पत्र प्रेषक युवक यदि इसके उस महत्व को समझ जायं जिसका कि अनुमान नहीं लगाया जा सकता, और यदि उसे अपने में विश्वास एवं अपनी पत्नी के लिए प्रेम हो, तो वह अपनी पत्नी को भी अपने विचारों का बना लेगा। उसका यह कहना कि मैं स्वयं संयम कर सकता हूँ, क्या सच है? क्या उसने अपनी पाशविक वासना को जन-सेवा जैसी किसी ऊँची भावना में परिणित कर लिया है? क्या स्वभावतः वह ऐसी कोई बात नहीं करता, जिससे उसकी पत्नी की विषय-भावना को प्रोत्साहन मिले? उसे जानना चाहिए कि हिन्दूशास्त्रानुसार आठ तरह के सहवास माने गये हैं, जिनमें संकेतों द्वारा विषय प्रवृत्ति को प्रेरित करना भी शामिल है। क्या वह इससे मुक्त है? यदि वह ऐसा हो और सच्चे दिल से यह चाहता हो कि उसकी पत्नी में भी विषय वासना न रहे, तो वह उसे शुद्धतम प्रेम से सराबोर करे, उसे यह नियम समझावे। सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के बगैर सहवास करने से जो शारीरिक हानि होती है, वह उसे समझावे, वीर्य-रक्षा का महत्व बतलावे। अलावा इसके उसे चाहिए कि अपनी पत्नी को अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त करके उनमें उसे लगाये रखे और उसकी विषय वृत्ति को शान्त करने के लिए उसके भोजन, व्यायाम आदि

को नियमित करने का यत्न करे। और इस सबसे बढ़ कर यदि वह धर्म प्रवृत्ति का व्यक्ति है, तो अपने उस जीवित विश्वास को वह अपनी सह-चरी पत्नी में भी पैदा करने की कोशिश करे। क्योंकि मुझे यह बात कहनी ही होगी कि, ब्रह्मचर्य व्रत का तब तक पालन नहीं हो सकता, जब तक कि ईश्वर में जो कि जीता जागता सत्य है अटूट विश्वास न हो। आज कल तो यह एक फैशन सा बन गया है कि जीवन में ईश्वर का कोई स्थान नहीं समझा जाता और सच्चे ईश्वर में अडिग आस्था रखने की आवश्यकता के बिना ही सर्वोच्च जीवन तक पहुँचने पर जोर दिया जाता है। मैं अपनी यह असमर्थता कबूल करता हूँ कि जो अपने से ऊंची किसी दैवी शक्ति में विश्वास नहीं रखते, या उसकी जरूरत नहीं समझते, उन्हें मैं यह बात समझा नहीं सकता। पर मेरा अनुभव तो मुझे इसी बात पर ले जाता है कि जिसके नियमानुसार सारे विश्व का संचालन होता है, उस शाश्वत नियम में अचल विश्वास रखे बिना पूर्णतम जीवन संभव नहीं है। इस विश्वास से विहीन व्यक्ति तो समुद्र से अलग आ पड़ने वाली उस बूंद के समान है, जो नष्ट होकर ही रहती है; परन्तु जो बूंद समुद्र में रहती है, वह उसकी गौरव वृद्धि में योग देती है और हमें प्राणप्रद वायु पहुँचाने का सम्मान उसे प्राप्त होता है।

काम-शास्त्र

क्या गुजरात में और क्या दूसरे प्रान्तों में, सब जगह कामदेव मामूल के माफिक विजय प्राप्त कर रहे हैं। आज कल की उनकी विजय में एक विशेषता यह है कि उनके शरणागत नर-नारीगण उसको धर्म मानते दिखाई देते हैं। जब कोई गुलाम अपनी बेड़ी को शृंगार समझ

कर पुलकित होता है, तब कहना चाहिए कि उसके सरदार की पूरी विजय हो गई। इस तरह कामदेव की विजय देखते हुए भी मुझे इतना विश्वास है कि यह विजय क्षणिक है, तुच्छ है और अन्त में डंक कटे बिच्छू की तरह निस्तेज हो जाने वाली है। ऐसा होने के पहले पुरुषार्थ की तो आवश्यकता है ही, यहाँ पर मेरा यह आशय नहीं है कि, अंत में तो कामदेव की हार होने ही वाली है, इसलिए हम सुस्त या गाफ़िल हो कर बैठे रहें। काम पर विजय प्राप्त करना स्त्री-पुरुषों का एक परम कर्तव्य है। उस पर विजय प्राप्त किये बिना स्वराज्य असम्भव है, स्वराज्य बिना सुराज्य अथवा राम राज्य होगा ही कहाँ से? स्वराज्य विहीन सुराज खिलौने के आम की तरह समझना चाहिए। देखने में बड़ा सुन्दर, पर जब उसे खोला तो अन्दर पोल ही पोल। काम पर विजय प्राप्त किये बिना कोई सेवक हरिजन की, कौमी ऐक्य की, खादी की, गोमाता की, ग्रामवासी की सेवा कभी नहीं कर सकता। इस सेवा के लिए बौद्धिक सामग्री बस होने की नहीं। आत्मबल के बिना ऐसी महान् सेवा असम्भव है; और आत्मबल प्रभु के प्रसाद के बिना अशक्य है। कामी को प्रभु का प्रसाद मिला हो—ऐसा अब तक देखा नहीं गया।

तो मगन भाई ने यह सवाल पूछा है कि, हमारे शिक्षा-क्रम में काम-शास्त्र के लिए स्थान है या नहीं, यदि है तो कितना? काम-शास्त्र दो प्रकार का होता है—एक तो है काम पर विजय प्राप्त करने वाला; उसके लिए तो शिक्षण-क्रम में स्थान होना ही चाहिए। दूसरा है, काम को उत्तेजन देने वाला शास्त्र। यह सर्वथा त्याज्य है। सब धर्मों ने काम को शत्रु माना है। क्रोध का नम्बर दूसरा है। गीता तो कहती है कि काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। वहाँ काम का व्यापक अर्थ लिया गया है। हमारे विषय से सम्बन्ध रखने वाला 'काम' शब्द प्रचलित अर्थ में इस्तेमाल किया गया है।

ऐसा होते हुए भी यह प्रश्न बाकी रहता है कि बालक बालिकाओं को गुह्येन्द्रियों का और उनके व्यापार का ज्ञान दिया जाय या नहीं? मैं समझता हूँ कि यह ज्ञान एक हद तक आवश्यक है। आज कल कितने ही बालक बालिकायें शुद्ध ज्ञान के अभाव में अशुद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं और वे इन्द्रियों का बहुत दुरुपयोग करते हुए पाये जाते हैं। आँख होते हुए भी हम नहीं देख सकते। बालक बालिकाओं को उन इन्द्रियों का उपयोग-दुरुपयोग का ज्ञान देने की आवश्यकता को मैं मानता हूं। मेरे हाथ-नीचे जो बालक-बालिकाएँ रहे हैं, उन्हें मैंने ऐसा ज्ञान देने का प्रयत्न भी किया है, परन्तु यह शिक्षण और ही दृष्टि से दिया जाता है। इन इन्द्रियों का ज्ञान देते हुए संयम की शिक्षा दी जाती है। काम पर कैसे विजय प्राप्त होती है, यह सिखाया जाता है। यह शिक्षण देते हुए भी मनुष्य और पशु के बीच का भेद बताना आवश्यक हो जाता है। मनुष्य वह है, जिसे हृदय और बुद्धि है। यह उसका आस्वर्थ है। हृदय को जागृत करने का अर्थ है—सारासार विवेक सिखाना। यह सिखाते हुए काम पर विजय प्राप्त करना बताया जाता है।

तो अब इस शास्त्र की शिक्षा कौन दे? जिस प्रकार खगोल शास्त्र की शिक्षा वही दे सकता है जो उसमें पारंगत हो, उसी तरह काम के जीतने का शास्त्र भी वही सिखा सकता है, जिसने काम पर विजय प्राप्त कर ली हो। उसकी भाषा में संस्कारिता होगी, बल होगा, जीवन होगा। जिस उच्चारण के पीछे अनुभव ज्ञान नहीं है वह जड़वत है, वह किसी को स्पर्श नहीं कर सकता। जिसको अनुभव ज्ञान है, उसका कथन बिना उगे नहीं रह सकता।

आज कल हमारा वाह्याचार, हमारा वाचन, हमारा विचार क्षेत्र सब काम की विजय सूचित कर रहे हैं। हमें उसके पाश से मुक्त

होने का प्रयत्न करना है । यह काम अवश्य ही विकट है, मगर परवाह नहीं अगर इने गिने ही गुजराती हों, जिन्हों ने शिक्षण शास्त्रका अनुभव प्राप्त किया हो और जो काम पर विजय प्राप्त करने के धर्म को मानते हों, उनकी श्रद्धा यदि अचल रहेगी वे जागृत रहेंगे और सतत प्रयत्न करते रहेंगे, तो गुजरात के बालक बालिकाएँ शुद्ध ज्ञान प्राप्त करेंगे और काम के जाल से मुक्ति प्राप्त करेंगे और जो उसमें न फँसे होंगे वे बच जायँगे।

दहेज की कुप्रथा

कुछ महीने हुए कि 'स्टेट्समैन' ने दहेज प्रथा पर चर्चा छेड़ी थी। यह प्रथा करीब-करीब हिन्दुस्तान भर में अनेक जातियों में प्रच-लित है। 'स्टेट्समैन' के सम्पादक ने भी इस विषय पर अपने विचार प्रगट किये थे। 'यंग इन्डिया' में मैं अक्सर इस प्रथा पर लिखा करता था। उन दिनों इस रिवाज़ के बारे में जो जो निर्दयता पूर्ण बातें मुझे मालूम हुआ करती थीं, उनके स्मरण 'स्टेट्समैन' के इन लेखों ने फिर से ताजा कर दिये हैं। सिन्ध में जिस प्रथा को 'देती लेती' कहते हैं, मैंने उसी को लक्ष्य में रख कर 'यंग-इन्डिया' में लेख लिखे थे। ऐसे काफी सुशिक्षित सिंधी थे, जो लड़कियों की शादी के लिये फिक्रमंद माता-पिताओं से बड़ी-बड़ी रकमें ऐंठते थे। पर 'स्टेट्समैन' ने तो इस प्रथा के खिलाफ़ एक आम लड़ाई छेड़ दी है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक हृदयहीन रिवाज है। मगर जहाँ तक मैं जानता हूँ, जनसाधा-रण से जो करोड़ों की संख्या में हैं, इसका कोई संबन्ध नहीं। मध्य वर्ग के लोगों में ही यह रिवाज पाया जाता है। जो भारत के विशाल जन-समुद्र में बिन्दु मात्र हैं। बुरे-बुरे रिवाजों के बारे में जब हम बात करते हैं, तब साधारणतः मध्य वर्ग के लोग ही हमारे ध्यान में होते हैं।

गाँवों में रहने वाले करोड़ों लोगों के रिवाजों और तकलीफों के बारे में हम अभी जानते ही क्या हैं ?

फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि चूंकि दहेज की कुप्रथा हिन्दुस्तान में बहुत अल्पसंख्यक लोगों तक ही सीमित है, इसलिये हम उस पर कोई ध्यान न दें। प्रथा तो यह नष्ट होनी ही चाहिये। दहेज प्रथा का जात-पाँत के साथ बहुत नज़दीकी सम्बन्ध है, जब तक किसी खास जाति के कुछ सौ नवयुवक या नवयुवतियों तक वर या कन्या की पसंदगी मर्य्यादित है, तब तक यह कुप्रथा जारी ही रहेगी, भले ही उसके खिलाफ दुनियाँ भर की बातें कही जाँय। इस बुराई को अगर जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक देना है, तो लड़कियों या लड़कों या उनके माता पिताओं को ये जात-पाँत बन्धन तोड़ने ही होंगे। विवाह जो अभी छोटी-छोटी उम्र में होते हैं, उनमें भी हमें फेरफार करना होगा और अगर जरूरी हो यानी ठीक वर न मिले, तो लड़कियों में यह हिम्मत होनी चाहिये कि वे अनब्याही ही रहें। इस सब का अर्थ यह हुआ कि ऐसी शिक्षा दी जाय जो राष्ट्र के युवकों और युवतियों की मनोवृत्ति में क्रान्ति पैदा कर दे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जिस ढङ्ग की शिक्षा हमारे देश में आज दी जाती है, उसका हमारी परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं और इससे होता यह है कि राष्ट्र के मुट्ठी भर लड़कों और लड़कियों को जो शिक्षा मिलती है, उससे हमारी परिस्थितियाँ अछूती ही रहती हैं। इसलिये इस बुराई को कम करने के लिये जो भी किया जा सके वह जरूर किया जाय, पर यह साफ़ है कि यह तथा दूसरी अनेक बुराइयाँ तभी, मेरी समझ में, दूर की जा सकती हैं, जब कि देश की हालतों के मुताबिक जो तेज़ी से बदलती जा रही हैं, लड़कों और लड़कियों को तालीम दी जाय। यह कैसे हो सकता है कि इतने तमाम लड़के और लड़कियाँ, जो कालेजों तक में शिक्षा हासिल कर चुके हों, एक ऐसी बुरी प्रथा का

जिसका कि उनके भविष्य पर उतना ही असर पड़ता है, जितना कि शादी का, सामना न कर सकें या न करना चाहें ? पढ़ी लिखी लड़कियाँ क्यों आत्महत्या करें, इसलिये कि उन्हें योग्य वर नहीं मिलते ? उनकी शिक्षा का मूल्य ही क्या, अगर वह उनके अन्दर एक ऐसे रिवाज को ठुकरा देने की हिम्मत पैदा नहीं कर सकती, जिसका कि किसी तरह पक्ष समर्थन नहीं किया जा सकता और जो मनुष्य की नैतिक भावना के बिलकुल विरुद्ध है ? जवाब साफ़ है । शिक्षा पद्धति के मूल में ही कोई गलती है, जिससे कि लड़कियाँ और लड़के सामाजिक या दूसरी बुराइयों के खिलाफ़ लड़ने की हिम्मत नहीं दिखा सकते । मूल्य या महत्व तो उसी शिक्षा का है जो मानव जीवन की हर तरह की समस्याओं को ठीक-ठीक हल कर सकने के लिये विद्यार्थी के मस्तिष्क को विकसित करदे ।

एक युवक की दुविधा

एक विद्यार्थी पूछता है:—

"मैट्रिक पास या कालेज में पढ़ने वाला युवक अगर दुर्भाग्य से दो तीन बच्चों का पिता हो गया हो, तो उसे अपनी आजीविका प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिये ? और उसकी इच्छा के विरुद्ध पचीस वर्ष पहले ही उसकी शादी करदी जाय तो उसे, उस हालत में, क्या करना चाहिये ?"

मुझे तो सीधे से सीधा यह जवाब सूझता है कि जो विद्यार्थी अपनी स्त्री व बच्चों का पोषण करने के लिये क्या करना चाहिये, यह न जानता हो, अथवा जो अपनी इच्छा के विरुद्ध शादी करता हो, उसकी पढ़ाई व्यर्थ है । लेकिन इस विद्यार्थी के लिये तो वह भूत काल का इतिहास मात्र है । इस विद्यार्थी को तो ऐसे उत्तर की ज़रूरत है जो

उसको सहायक हो सके। उसने यह नहीं बताया कि उसकी जरूरतें कितनी हैं ? वह अगर मैट्रिक पास है, तो अपनी कीमत ज्यादा न आँके और साधारण मज़दूरों की श्रेणी में अपने को रखेगा, तो उसे अपनी आजीविका प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं आवेगी, उसकी बुद्धि उसके हाथ पैर को मदद करेगी और इस कारण जिन मज़दूरों को अपनी बुद्धि का विकास करने का अवसर नहीं मिला है, उनकी अपेक्षा वह अच्छा काम कर सकेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो मज़दूर अँगरेजी नहीं पढ़ा है वह मूर्ख होता है। दुर्भाग्य से मज़दूरों को उनकी बुद्धि के विकास में कभी मदद नहीं दी गई और जो स्कूलों में पढ़ते हैं, उनकी बुद्धि कुछ तो विकसित होती ही है, यद्यपि उनके सामने जो विघ्न बाधाएँ आती हैं वे इस जगत् के दूसरे किसी भाग में देखने को नहीं मिलतीं। इस मानसिक विकास का वातावरण स्कूल-कालेज में पैदा हुए झूठी प्रतिष्ठा के ख्याल से बराबर हो जाता है। इस कारण विद्यार्थी यह मानने लगते हैं कि कुर्सी मेज़ पर बैठ कर ही वे आजीविका प्राप्त कर सकते हैं। अतः इस प्रश्नकर्त्ता को तो शरीर श्रम का गौरव समझ कर इसी क्षेत्र में से अपने परिवार के लिये आजीविका प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

और फिर उसकी पत्नी भी अवकाश के समय का उपयोग करके परिवार की आमदनी को क्यों न बढ़ावे। इसी प्रकार अगर लड़के भी कुछ काम करने जैसे हों तो उनको भी किसी उत्पादक काम में लगा देना चाहिये। पुस्तकों के पढ़ने से ही बुद्धि का विकास होता है, यह ख्याल गलत है। इनको दिमाग़ में से निकाल कर यह सच्चा ख्याल मन में जमाना चाहिये कि शास्त्रीय रीति से कारीगर का काम सीखने से मन का विकास सब से जल्दी होता है। हाथ को या औज़ार को किस प्रकार मोड़ना या घुमाना पड़ता है, यह कदम-कदम पर उम्मीदवार को सिखलाया जाता है, तब उसके मन के सच्चे विकास की शुरूआत होती है।

विद्यार्थी अगर अपने को साधारण मजदूरों की श्रेणी में खड़ा करलें, तो उनकी बेकारी का प्रश्न बिना मिहनत के हल हो सकता है।

अपनी इच्छा के विरुद्ध विवाह करने के विषय में तो मैं इतना ही कह सकता हूँ कि अपनी इच्छा के खिलाफ़ जबर्दस्ती किये जाने वाले विवाह का विरोध करने जितना संकल्प-बल तो विद्यार्थियों को ज़रूर प्राप्त करना चाहिये। विद्यार्थियों को अपने बल पर खड़ा रहने और अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई भी बात—खास कर ब्याह शादी—जबर्दस्ती किये जाने के हर एक प्रयत्न का विरोध करने की कला सीखना चाहिये।

रोष भरा विरोध

एक बंगाली स्कूल के मास्टर लिखते हैं :—

"आपने मद्रास के विद्यार्थियों को विधवा लड़कियों से ही शादी करने की सलाह देते हुए जो भाषण दिया है, उससे हम भयभीत हो रहे हैं और मैं उससे नम्र परन्तु रोष भरा विरोध जाहिर करता हूँ।

विधवाओं के लिए आजन्म ब्रह्मचर्य के पालन के कारण भारत की स्त्रियों को संसार में सब से बड़ा और ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ है, उसके पालन करने की वृत्ति को ऐसी सलाहें नष्ट कर देंगी और भौतिक सुखों के दुष्ट मार्ग पर उन्हें चढ़ा कर एक ही जन्म में ब्रह्मचर्य के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की उनकी सुविधा को मिटा देंगी। इस प्रकार विधवाओं के प्रति ऐसी सहानिभूति दिखाना उनकी असेवा होगी और कुंवारियों के प्रति जिनके विवाह का प्रश्न आज बड़ा पेचीला और मुश्किल हो गया है, बड़ा अन्याय होगा। विवाह सम्बन्धी आपके इन विचारों से हिन्दुओं के पुनर्जन्म और मुक्ति के विचारों की इमारत गिर जायगी और हिन्दू समाज भी दूसरे समाजों के जैसा ही, जिन्हें हम पसन्द नहीं करते, बन

जायगा। इसमें संदेह नहीं कि हमारे समाज का नैतिक पतन हुआ है, परन्तु हमें हिन्दू आदर्शों के प्रति हमारी दृष्टि खुला रखना चाहिए और उसे उस आदर्श के अनुकूल मार्ग दिखाना चाहिए। हिन्दू समाज को अहिल्या बाई, रानी भवानी, अहुला, सीता, सावित्री, दमयन्ती के उदाहरणों से शिक्षा लेनी चाहिए, और हमें भी उन्हीं के आदर्शों के मार्ग पर उसे चलाना चाहिये। इसलिये मैं आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप इन विषय प्रश्नों पर अपनी ऐसी राय जाहिर करने से रुक जायँ और समाज को जो वह उत्तम समझे वही करने दें।"

इस रोष भरे विरोध से न मेरे विचार बदले हैं और न मुझे कोई पश्चात्ताप ही हुआ है। कोई भी विधवा जिसमें इच्छा बल है और जो ब्रह्मचर्य को समझ कर उसका पालन करने पर तुली हुई है, मेरी इस सलाह से अपना इरादा छोड़ न देगी। परन्तु मेरी सलाह पर अमल किया जायगा तो उससे उन छोटी उम्र की लड़कियों को जरूर राहत मिलेगी, जो शादी के समय शादी किसे कहते हैं, यह भी नहीं समझती थीं। उनके संबंध में विधवा शब्द का प्रयोग इस पवित्र शब्द का दुरुपयोग है। मुझे पत्र लिखने वाले इन महाशय के जो ख़याल हैं उसी ख़याल से तो मैं देश के युवकों को या तो इन नाम मात्र की विधवाओं से शादी करने की या बिलकुल ही शादी न करने की सलाह देता हूँ। इसकी पवित्रता की तभी रक्षा हो सकेगी, जब कि बाल विधवाओं का अभिशाप उससे दूर कर दिया जायगा। ब्रह्मचर्य के पालन से विधवाओं को मोक्ष मिलता है, इसका तो अनुभव में कोई प्रमाण नहीं मिलता है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल ब्रह्मचर्य ही नहीं, परन्तु और भी विशेष बातों की आवश्यकता होती है और जो ब्रह्मचर्य [illegible] लादा गया है, उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। [illegible] होते हैं, जिनसे उस समाज की नैतिक शक्ति का ह्रास होता है। पत्र लेखक

महाशय को यह जान लेना चाहिये कि मैं यह बातें अनुभव से लिख रहा हूँ।

यदि मेरी इस सलाह से बाल विधवाओं से न्याय किया जावेगा और उस कारण कुंवारियों के मनुष्य की विषय लालसा के लिए बेची जाने के बदले उन्हें वय और बुद्धि में बढ़ने दिया जायगा, तो मुझे बड़ी खुशी होगी।

विवाह के मेरे विचारों में और पुनर्जन्म और मुक्ति में कोई असंगति नहीं है। पाठकों को यह मालूम होना चाहिए कि करोड़ों हिन्दू जिन्हें हम अन्यायतः नीचि जाति के कहते हैं, उनमें पुनर्लग्न का कोई प्रतिबंध नहीं है और मैं यह भी नहीं समझ सकता हूँ कि वृद्ध विधुरों के पुनर्लग्न से उन विचारों को क्यों नहीं बाधा पहुँचती है और लड़कियों की—जिन्हें गलत तौर पर विधवा कहा जाता है—शादी से इन सब विचारों को बाधा पहुँचती है? पत्र लेखक की पुष्टि के लिए मैं यह भी कहता हूँ कि पुनर्जन्म और मुक्ति मेरे विचारों में केवल विचार ही नहीं है परन्तु ऐसा सत्य है जैसा कि सुबह को सूर्य का उदय होना। मुक्ति सत्य है और उसे प्राप्त करने के लिए मैं भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ। यही मुक्ति के विचार ने मुझे बाल विधवाओं के प्रति किये जाने वाले अन्याय का स्पष्ट भान कराया है। अपनी कायरता के कारण हमें जिनके प्रति अन्याय किया गया है, इन वर्तमान बाल विधवाओं के साथ सदा स्मरणीय सीता और दूसरी स्त्रियों के नाम जो पत्र लेखक ने गिनाये हैं नहीं लेना चाहिये।

अन्त में यद्यपि हिंदू धर्म में सच्चे विधवापन का गौरव किया गया है और ठीक किया गया है, फिर भी जहाँ तक मेरा ख़याल है, इस विश्वास के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि वैदिक काल में विधवाओं के पुनर्लग्न का सम्पूर्ण प्रतिबंध था। परन्तु सच्चे विधवापन के विरुद्ध मेरी

यह लड़ाई नहीं है। वह उसके नाम पर होने वाले अत्याचार के खिलाफ है। अच्छा रास्ता तो यह है कि मेरे ख़याल में जो लड़कियाँ हैं, उन्हें विधवा ही नहीं मानना चाहिए और उनका यह असह्य बोझ दूर करना प्रत्येक हिन्दू का जिसमें कुछ भी नारित्व है, स्पष्ट कर्तव्य है। इसलिये मैं फिर जोर देकर हर एक नवजवान हिन्दू को यह सलाह देता हूँ कि इन बाल विधवाओं के सिवा दूसरी लड़कियों से शादी करने से वे इन्कार करदें।

आत्म त्याग

मुझे बहुत से नौजवान पत्र द्वारा सूचित करते हैं कि उन पर कुटुम्ब निर्वाह का बोझा इतना ज्यादा पड़ा हुआ होता है कि देश सेवा के कार्य में से जो वेतन उन्हें मिलता है वह उनकी जरूरतों के लिये बिलकुल काफ़ी नहीं होता। उनमें से एक महाशय कहते हैं कि मुझे तो अब यह काम छोड़ कर रुपया उधार लेकर या भीख माँग करके योरप जाना पड़ेगा, जिससे कि कमाई ज्यादा करना सीख सकूं, दूसरे महाशय किसी पूरे वेतन वाली नौकरी की तलाश में हैं; तीसरे कुछ पूंजी चाहते हैं कि जिससे ज्यादा कमाई करने के लिये कुछ व्यापार खड़ा हो सके। इनमें से हर एक नौजवान सशील, सच्चरित्र और आत्म त्यागी हैं। किन्तु एक उल्टा प्रवाह चल पड़ा है। कुटुम्ब की आवश्यकताएँ बढ़ गई हैं। खद्दर या राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य में से उनका पूरा नहीं होता है। वेतन अधिक माँग कर ये लोग देश सेवा के कार्य पर भार रूप होना पसन्द नहीं करते। परन्तु ऐसा विचार करने से अगर सभी ऐसा करने लगें तो नतीजा यह होगा कि या तो देश सेवा का कार्य ही बिलकुल बन्द हो जायगा, क्यों कि वह तो ऐसे ही की पुरुषों के परिश्रम पर निर्भर रहा करता है, या ऐसा हो सकता है कि सब के वेतन खूब बढ़ाये जाँय; तो उसका भी नतीजा तो वैसा ही खराब होगा।

असहयोग का निर्माण तो इसी बुनियाद पर हुआ था कि हमारी जरूरतें हमारी परिस्थिति के मुकाबले में हद से ज्यादा वेग से बढ़ती हुई मालूम हुई थीं। आशय यह होने ही से यह स्पष्ट है—कि असहयोग कोई व्यक्तियों के साथ नहीं, वरन् उस मनो दशा के साथ होना चाहिए था कि जिस पर वह तंत्र कायम है, जो नाग पाश की तरह हमें अपने घेरे में बांधे हुए है और जिससे हमारा सर्वनाश होता चला जा रहा है। इस तंत्र ने उसमें फंसे हुए लोगों के रहन-सहन का ढंग इतना बढ़ा चढ़ा दिया था कि वह देश की आम हालत के बिलकुल प्रतिकूल था। हिन्दुस्तान दूसरे देशों के जी पर जीने वाला देश था नहीं, इसलिए हमारे यहाँ के बीच के दर्जे के लोगों का जीवन अधिक खर्चीला हो जाने से कंगाल दर्जे के लोग तो बिलकुल मारे गये, क्योंकि उनके कार्य के दलाल तो ये बीच के दर्जे वाले लोग ही थे। इसलिए छोटे २ कस्बे तो इस जीवन विग्रह में खड़े रहने की सामर्थ्य के अभाव से ही मिटते चले जा रहे थे। सन् १९२० में यह बात साफ साफ नजर आने लग गयी थी। इसमें अटकाव डालने वाला आन्दोलन अभी आरम्भ की हालत में है। जल्दी की किसी कार्रवाई से हमें उसके विकास को रोक न देना चाहिये।

हमारी जरूरतों की इस कृत्रिम बढ़ती से हमें विशेष नुकसान इस वजह से हुआ कि जिस पाश्चात्य प्रथा से हमारी जरूरतें बढ़ी हैं, वह हमारे यहां की पुराने जमाने से चली आने वाली संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा के अनुकूल नहीं है। कुटुम्ब प्रथा निर्जीव हो चली, इसलिये उसके दोष ज्यादा साफ-साफ नजर आने लगे और उसके फायदों का लोप हो गया। इस तरह एक विपत्ति के साथ और आ मिली।

देश की ऐसी दशा में इतने आत्मत्याग की आवश्यकता है कि जो उसके लिए पर्याप्त हो। बाहरी के बनिस्बत भीतरी सुधार की ज्यादा

जरूरत है। भीतर अगर घुन लगा हुआ हो तो उस पर बनाया हुआ बिलकुल दोषहीन राज विधान भी सफेद कब्र सा होगा।

इसलिए हमें आत्म शुद्धि की क्रिया पूरी-पूरी करनी होगी। आत्म-त्याग की भावना बढ़ानी पड़ेगी। आत्मत्याग बहुत किया जा चुका है, सही, मगर देश की दशा को देखते हुए वह कुछ भी नहीं है। परिवार के सशक्त स्त्री या पुरुष अगर काम करना न चाहें तो उनका पालन-पोषण करने की हिम्मत हम नहीं कर सकते। निरर्थक व मिथ्या वहम वाले रीति-रिवाजों, जाति-भोजनों या विवाह आदि के बड़े-बड़े खर्चों के वास्ते एक पैसा भी खर्च करने को निकाल नहीं सकते। कोई विवाह या मौत हुई कि बेचारे परिवार के संचालक के ऊपर एक अनावश्यक और भयंकर बोझा आ पड़ता है। ऐसे कार्यों को आत्मत्याग मानने से इन्कार करना चाहिए। बल्कि इन्हें तो अनिष्ट समझ कर हिम्मत और दृढ़ता से हमें इनका विरोध करना चाहिए।

शिक्षा-प्रणाली भी तो हमारे लिये बेहद मँहगी है। करोड़ों को जब पेट भर अनाज नहीं मिलता है, जब कि लाखों आदमी भूख के मारे मरते चले जारहे हैं, ऐसे वक्त हम अपने परिवार वालों को ऐसी भारी मँहगी शिक्षा दिलाने का भयंकर विचार कर सकते हैं? मानसिक विकास तो कठिन अनुभव से ही होगा, मदर्सों या कालिज में पढ़ने से ही हो ऐसा नहीं है। जब हम में से कुछ लोग खुद अपने और अपनी सन्तान के लिए ऊँचे दर्जे की मानी जाने वाली शिक्षा ग्रहण करने का त्याग करेंगे, तभी सच्ची ऊँचे दर्जे की शिक्षा पाने व देने का उपाय हमारे हाथ लगेगा। क्या ऐसा कोई मार्ग नहीं है या नहीं हो सकता है कि जिससे प्रत्येक लड़का अपना खर्चा खुद निकाल सके? ऐसा कोई मार्ग चाहे न हो, किन्तु हमारे सामने प्रस्तुत प्रश्न यह नहीं है कि ऐसा कोई मार्ग है या नहीं। इसमें अलबत्ता कोई शक नहीं है कि जब हम इस मँहगी

शिक्षा-प्रणाली का त्याग करेंगे, तभी अगर ऊँचे दर्जे की शिक्षा पाने की अभिलाषा इष्ट वस्तु मान ली जावे, तो हमें अपनी परिस्थिति के लायक उसे प्राप्त करने का मार्ग मिल सकेगा। ऐसे किसी भी प्रसंग पर काम आने वाला महामंत्र यह है कि जो वस्तु करोड़ों आदमियों को न मिल सकती हो, उसका हम खुद भी त्याग करें। इस तरह का त्याग करने की योग्यता सहसा तो हममें नहीं आ सकती। पहले हमें ऐसा मानसिक झुकाव पैदा करना पड़ेगा कि जिससे करोड़ों को न प्राप्त हो सके, वैसी चीज़ें और वैसी सुविधाएँ लेने की इच्छा ही हमें न हो और उसके बाद हमें शीघ्र ही हमारे रहन-सहन के ढंग उसी मार्ग के अनुकूल बना डालना चाहिए।

ऐसे आत्मत्यागी व निश्चयी कार्यकर्ताओं की एक बड़ी भारी सेना की सेवा के बिना आम लोगों की तरक्की मुझे असम्भव दिखाती है। और उस तरक्की के सिवाय स्वराज्य ऐसी कोई चीज़ नहीं। गरीबों की सेवा से हितार्थ अपना सर्वस्व त्याग करने वाले कार्य कर्ताओं की संख्या जितनी बढ़ती जावेगी, उतने ही दर्जे तक हमने स्वराज्य की ओर विशेष कूच की, ऐसा मानना चाहिए।

विद्यार्थी की दुविधा

एक सरल चित्त विद्यार्थी लिखता है—

"मेरे पत्र में खादी सेवक बनने के विषय में आपने जो लिखा है, वह मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा। सेवा करने की धारणा तो है ही। परन्तु मुझे अभी यह विचार ही करना है कि खादी सेवक बनूंगा या किसी दूसरी तरह से सेवा करूँगा। पर अभी तक मेरे दिल में नहीं पैठा है कि खादी उद्धार में भी आत्मोन्नति घुसी हुई है। आज तो हिन्दुस्तान

की आर्थिक स्थिति के सुधार और उसके स्वतंत्र होने के लिए कातना आवश्यक समझ कर समाज के प्रति अपना कर्तव्य पालन भर के लिए ही कातता हूँ। पीछे तो जो सेवा मेरे लिए उत्तम बनी होगी, उसी अनुसार बनेगा। आज तो यही ध्येय है कि जितना ज्ञान मिल सके, उसी को लेकर सेवा करने को तैयार हो जाय।

'ब्रह्मचर्य के पालन के विषय में मुझे लिखने का ही क्या होवे। ईश्वर से तो इतनी ही प्रार्थना है कि ब्रह्मचर्य पालन करने की महत्वाकांक्षा पूर्ण करने की वह शक्ति देवे।

मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप एक ही साथ, विद्यालयों में ज्ञान और उद्योग को एक सा स्थान कैसे देते हैं। मुझे यों लगा ही करता है कि हम दो काम एक साथ करने जाकर एक भी ठीक-ठीक न कर सकेंगे।

"हमें उद्योग सीखना तो है ही, मगर क्या यह अच्छा नहीं कि पढ़ना खत्म करके हम उद्योग सीखें? कातने को तो मैं उद्योग में गिनता ही नहीं। कातना तो समाज के प्रति हर एक आदमी का धर्म है और इसलिए सबको कातना चाहिये। परन्तु दूसरे उद्योगों के लिए क्या? मुझे लगता है कि बुनाई, खेती और उसके सम्बन्धी काम बढ़ई गीरी वगैरह उद्योग पढ़ना समाप्त करने के बाद ही शुरू किये जा सकते हैं। ये हर एक काम भी स्वतंत्र विषय हैं। इनके लिये एकाध वर्ष दे दिया होवे तो ठीक होता है।"

'आज मैं अपनी स्थिति विचारने बैठूं तो दोनों वस्तुएँ बिगड़ती हुई सी लगती हैं। तीन घंटे कारीगरी का काम करके बाहर के समय में कातना, किसी बाहरी विद्यालय में सिखाये जाने वाले विषयों जितने विषय पढ़ना, स्वाध्याय करना और आवश्यक कामों में भाग लेना, यह तो सचमुच में मुश्किल मालूम पड़ता है।

'लड़कों की पढ़ाई तो घटाई जा ही नहीं सकती। उन्हें तो सभी विषय सीखना जरूरी है ही। तब इतने विषय सीखते हुए स्वाध्याय करते हुए भी उन पर अधिक बोझ क्यों डालें? दिया गया पाठ बालक तैयार कर ही नहीं सकते, फिर आपसे अलग स्वावलम्बन कर ही कहाँ सकते हैं। मैं देखता हूँ कि ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वावलम्बन बढ़ाना जरूरी होता जाता है। और उतना समय निकल सकता नहीं'।

"यह विचार मैंने शिक्षकों से भी कहे, इस पर चर्चा भी हुई है। मगर इससे मुझे अभी सन्तोष नहीं हुआ है। मुझे लगता है कि वे हमारी कठिनाइयों को समझ नहीं सके हैं। आप इस विषय में विचार करके मुझे समझावें।"

इस पत्र में दो विषय बड़े महत्व के हैं। पाठक तो यह समझ ही गये होंगे कि यह पत्र मेरे पत्र के जवाब में आया था। उसका खानगी जवाब देने के बदले, इस आशा में कि यह कई विद्यार्थियों को मददगार होगा, 'नवजीवन' द्वारा उत्तर देने का निश्चय कर, मैं तीन माह तक पत्र को रखे रहा।

आत्मोन्नति और समाज सेवा में जो भेद इस पत्र में बताया गया है, वह भेद बहुत लोग करते हैं। मुझे इस भेद में विचार दोष दिखाई पड़ता है, मैं यह मानता हूँ, और मेरा यह अनुभव भी है कि जो काम आत्मोन्नति का विरोधी है, वह समाज सेवा का भी विरोधी है। सेवा कार्य के जरिये भी आत्मोन्नति हो सकती है। जो सेवा आत्मोन्नति को रोके वह त्याज्य है।

यह कहने वालों का भी पन्थ है कि 'झूठ बोलकर सेवा हो सकती है', पर यह तो सभी कबूल करेंगे कि झूठ बोलने से आत्मा की अवनति होती है। इसलिये झूठ बोल कर की जाने वाली सेवा त्याज्य

है। सच तो यह है कि यह मान्यता केवल ऊपरी आभास मात्र है कि झूठ बोल कर सेवा की जा सकती है। इससे भले ही समाज का तात्कालिक लाभ मालूम पड़े मगर यह बतलाया जा सकता है, कि इससे हानि ही होती है।

इसके उलटे चर्खे से समाज का लाभ होता है, जगत का लाभ होता है और उससे आत्मा का लाभ होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि हर एक कतवैया आत्मोन्नति का साधन करता ही है। जो दो पैसा पैदा करने के लिए कातता है, उसे उतना ही फल मिलता है। जो आत्मा को पहचानने के लिए कातता है, वह इसी जरिये मोक्ष भी पा सकता है। जो दंभ से या द्रव्य के लिए चौबीसों घन्टे गायत्री जपता है, उनमें पहले की तो अधोगति होती है, और दूसरा पैसे की प्राप्ति भर का ही फल पाकर रुक जाता है। मोक्ष तो वहीं है जहाँ सर्वोत्तम कार्य है और उसका सर्वोत्तम उद्देश्य है।

पर असल यही जानने के लिए कि सर्वोत्तम कार्य कौनसा है और सर्वोत्तम उद्देश्य क्या है, महाज्ञान की जरूरत पड़ती है। आत्मोन्नति की दृष्टि से खादी सेवा की लियाकत पैदा करनी कुछ छोटी बात नहीं है। आत्मार्थी खादी सेवक राग द्वेष विहीन होना चाहिए। इसमें सब कुछ आ गया। निस्वार्थ भाव से, केवल आजीविका भर को ही पाकर सन्तुष्ट रह कर, रेलवे से दूर, छोटे से गाँव में प्रतिकूल हवा के होते हुए, अडग श्रद्धा पूर्वक, आसन मार कर बैठने वाला एक भी खादी--सेवक अब तक तो हमें नहीं मिला है। ऐसा खादी सेवक संस्कृति जानता हो, संगीत का जानने वाला हो, वह जितनी कलाएँ जानता हो, वहां पर सब का उपयोग कर सकेगा। चर्खा शास्त्र के बाद कुछ भी न जानता हो तो भी सन्तुष्ट रह कर सेवा कर सकता है।

दीर्घ काल का आलस्य, दीर्घ काल का अन्ध विश्वास, वहम, दीर्घ काल की भूख मरी, दीर्घ काल का अविश्वास, इन सब अन्धकारों को दूर करने के लिए तो मोक्ष के पास पहुँचे हुए तपस्वियों की आवश्यकता है। इस धर्म का थोड़ा पालन भी महा भयों में से उद्धार करने वाला है। इससे वह सहज है। परन्तु उसका संपूर्ण पालन तो मोक्षार्थी की तपस्या जितना ही कठिन है।

इस कथन का यह आशय नहीं है कि कोई विद्याभ्यास छोड़कर अभी सेवा कार्य में लग जावे। पर इसका यह अर्थ जरूर है कि जिस विद्यार्थी में हिम्मत, बल होवे, वह आज से संकल्प कर लेवे कि विद्याभ्यास समाप्त करने पर उसे खादी सेवक बनना है। यों करे तो वह आज ही से खादी सेवा कर रहा है, क्योंकि पढ़ने के सभी विषयों का चुनाव वह इस सेवा की लियाकत पैदा करने की दृष्टि से ही करेगा।

अब दूसरी कठिनाई देखें, "मैं यह नहीं समझ पाता हूँ कि आप एक ही साथ विद्यालयों में ज्ञान और उद्योग को एकसा स्थान कैसे देते हैं?"

जब से मैं देश में आया हूँ, यह प्रश्न सुनता आया हूँ और जवाब भी मैंने एक ही दिया है। वह यह कि दोनों को समान स्थान मिलना ही चाहिये। पहले ऐसा होता था। विद्यार्थी समित्पाणी होकर गुरु के घर जाता। इससे उसकी नम्रता और सेवा भाव का परिचय मिलता था। और वह सेवा गुरु के लिए लकड़ी, पानी इत्यादि जंगल में से लाने की होती थी। यानी विद्यार्थी गुरु के घर पर खेती का, गोपालन का और शास्त्र का ज्ञान पाता था।

आज ऐसा नहीं होता। इसी से जगत में भूख मरी और अनीति बढ़ी है। असल ज्ञान और उद्योग अलग अलग चीजें नहीं हैं। उन्हें अलग करने से, उनका सम्बन्ध तोड़ने से ही, ज्ञान का व्यभिचार हो रहा

है,पति का छोड़ी हुई पत्नी के जैसा हाल उद्योग का होरहा है। और ज्ञान रूपी पति उद्योग को छोड़ कर स्वेच्छाचारी बना है और अनेक स्थानों पर अपनी बुरी नजर डालते हुए भी, अपनी कामनाओं की तृप्तियाँ ही नहीं कर सकता, इससे अन्त में स्वच्छन्द चलकर थकता है और पिछड़ता है।

दो में से किसी का पहला स्थान अगर होवे तो उद्योग का है। बालक जन्म से ही तर्क को काम में नहीं लाता, पर शरीर का इस्तेमाल करता है। पीछे चार पाँच वर्ष में समझ का ज्ञान पाता है। समझ पाते ही वह शरीर को भूल जाय तो समझ और शरीर दोनों में किसी का ठिकाना न लगे, शरीर के बिना समझ हो ही नहीं सकती। इसलिए समझ का उपयोग शरीर उद्यम में करने का है। आज तो देह को तन्दु-रुस्त रखने लायक कसरत भर का ही शरीर उद्यम रहता है, जब कि पहले उपयोगी कामों से ही कसरत मिल जाती थी ; ऐसा कहने का यह अर्थ नहीं है कि लड़के खेलें ही कूदें नहीं। इस खेल कूद का स्थान बहुत नीचा है और यह शरीर और मन का एक तरह का आराम है, शुद्ध शिक्षण में आलस्य को स्थान नहीं है। उद्योग हो या अक्षर ज्ञान हो दोनों ही रुचिकर होना चाहिये। उद्योग हो या अक्षर ज्ञान बालक अगर किसी से ऊबे तो यह शिक्षण का, शिक्षक का दोष है।

यह चिट्ठी रखने के बाद मेरे हाथों में एक किताब आई। उसमें मैंने देखा कि हाल में इंग्लैंड में उद्योग के साथ अक्षर की शिक्षा देने के केन्द्र बनाने के लिए जो संस्था खड़ी हुई है, उसमें इंग्लैंड के समीप बड़े आदमियों के नाम हैं। उनका उद्देश्य यह है कि आज जो शिक्षा दी जाती है उसका रुख बदल दिया जाय, बालकों को अक्षर ज्ञान और उद्योग की शिक्षा साथ देने के लिए उन्हें विशाल मैदानों में रखा जाय, वहाँ वे धंधा सीखें, उससे कुछ कमावें भी, और अक्षर ज्ञान

भी पावें। यह भी कहते हैं कि इसमें लाभ है, हानि नहीं, क्योंकि इस दरम्यान में विद्यार्थी कमाता जाता है और ज्यों ज्यों ज्ञान मिलता जाता है, उसे पचाता है।

मैं यों मानता हूँ कि दक्षिण अफ्रीका में मैंने जो प्रयोग किये, वे इस वस्तु का समर्थन करते हैं। जितना मुझे करने आया और मैं कर सका, उतना वे सफल हुए थे।

जहाँ शिक्षण की पद्धति अच्छी है, वहाँ पर स्ववाचन के लिए नहीं जितना ही समय चाहिये।

विद्यार्थी के मन में आवे तो कुछ पढ़ने करने या आलसी रहना चाहे तो आलसी रहने के लिये थोड़ा समय तो चाहिये। मैंने अभी जाना है कि योग विद्या में इसका नाम 'शवासन' है। मरे हुए के जैसे लम्बे पड़ जाना, शरीर, मन वगैरह को ढीला छोड़ कर, इरादे के साथ जड़ जैसा हो पड़ना शवासन है। उसमें सांस के साथ तो राम नाम चालू ही होवे, परन्तु वह आराम में कुछ खलल न पहुँचावे। ब्रह्मचारी के लिए तो उसका श्वास ही राम नाम होवे।

यह मेरा कहना अगर सच होवे तो यह विद्यार्थी और इसके साथी जो बुरे नहीं है, टेढ़े नहीं हैं, इसका अनुभव क्यों नहीं करते?

हमारी दयावनी स्थिति यह है कि हम सब शिक्षक अक्षर ज्ञान युग में पले हैं, तो भी कितने आदमी अपनी अपूर्णता देख सके हैं। यह झट मालूम न हुआ कि सुधार किस प्रकार करें। अब भी नहीं मालूम पड़ता है। जितनी बातें समझ में आती हैं, उनका पालन करने की शक्ति नहीं। रघुवंश रामायण या सेक्सपियर पढ़ाने वाले बढ़ईगीरी सिखलाने को समर्थ नहीं हैं। वे जितना अपना रघुवंश पढ़ाना जानते हैं, उतनी बुनाई नहीं जानते। जानते भी होंगे तो रघुवंश जितनी उसमें रुचि नहीं होगी। ऐसे अपूर्ण साधनों में से उद्योग और ज्ञान प्राप्त चारित्र्यवान

विद्यार्थी तैयार करना छोटा काम नहीं है। इसमें इस संधि-काल में अधकचरे शिक्षकों और प्रयत्नशील विद्यार्थियों को धैर्य और श्रद्धा रखनी ही रही। श्रद्धा से ही समुद्र लाँघा जा सकता है और बड़े बड़े किले फतह किये जा सकते हैं।

प्रश्नोत्तर

इङ्गलैंड में भारतीय विद्यार्थियों ने महात्मा गाँधी से कई एक दिलचस्प प्रश्न किये थे, जिसका उत्तर महात्माजी ने इस प्रकार दिया था।

प्रश्न—क्या मुसलमानों से एकता की आपकी माँग वैसी ही बेहूदा नहीं है, जैसी कि एकता की माँग सरकार हम से करती है? ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करने के बजाय आप अन्य सब बातों को क्या नहीं छोड़ देते?

उत्तर—आप दुहरी भूल करते हैं। पहिले तो मैंने जो मुसलमानों से कहा है उसके साथ सरकार जो हम से कहती है उसका मुकाबला करने में। ऊपर से देखने में कोई यह सवाल कर सकता है कि वस्तुतः यह एक ही सी मिसाल है, किन्तु यदि आप गहराई से विचार करेंगे, तो आपको मालूम होगा कि इनमें जरा भी समानता नहीं है। ब्रिटिश व्यवहार या माँग को संगीन के बल का सहारा है; जब कि मैं जो कुछ कहता हूँ हृदय से निकला होता है और प्रेम के, बल के सिवाय उसका और कोई सहारा नहीं। एक सर्जन और एक अत्याचारी हत्याकारी दोनों एक ही शस्त्र का उपयोग करते हैं, किन्तु परिणाम दोनों के भिन्न होते हैं। मैंने जो कुछ कहा, वह सही है, कि मैं कोई ऐसी माँग पूरी नहीं कर सकता, जिसका सब मुस्लिम दल समर्थन न करते हों, मैं केवल बहुसंख्यक वर्ग से ही किस प्रकार संचालित हो सकता हूँ? गहरा सवाल

यह है कि जब कि एक दल के मित्र एक चीज़ माँग रहे हैं; मेरे साथ एक दूसरे दल के साथी हैं, जिनके साथ मैंने इसी चीज़ के लिये काम किया है, और जिनका कुछ अर्से पहले इसी पहले दल के मित्रों ने मुझे अत्यन्त प्रतिष्ठित साथी कार्यकर्त्ता कह कर परिचय कराया था; क्या मैं उनके साथ ग़ैर वफ़ादारी करने का अपराधी बनूं ?

और आपको यह समझ रखनी चाहिये कि मेरे पास कोई शक्ति नहीं है, जो कुछ दे सके। मैंने उनसे सिर्फ़ यही कहा है कि यदि आप कोई सर्व सम्मत माँग पेश करेंगे, तो मैं उसके लिये प्रयत्न करूँगा। रहा, जो लोग अधिकार माँगते हैं, उन्हें समर्पण कर देने का प्रश्न, सो यह मेरा जीवन भर का विश्वास है—यदि मैं हिन्दुओं को मेरी नीति ग्रहण करने के लिये रज़ामन्द कर सकूं, तो प्रश्न तुरन्त हल हो सकता है, किन्तु इसके लिये मार्ग में हिमालय पहाड़ खड़ा है, इसलिये मैंने जो कुछ कहा है, वह ऐसा ही मूर्खतापूर्ण नहीं है, जैसी कि आप कल्पना करते हैं। यदि केवल मेरे हाथ में कुछ शक्ति होती तो मैं इस प्रश्न को कदापि इस प्रकार निराधार छोड़ कर अपने आप को संसार के सामने अपमानित होने का पात्र न बनता।

अन्त में जहाँ तक इस प्रश्न का सम्बन्ध है, मेरा कोई धर्म नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं हिन्दू नहीं हूँ, किन्तु मेरे प्रस्तावित समर्पण से मेरे हिन्दूपन पर किसी प्रकार का धब्बा या चोट नहीं पहुँचती। जब मैंने अकेले कांग्रेस का प्रतिनिधि होना स्वीकार किया, मैंने अपने आप से कहा कि मैं इस प्रश्न का विचार हिन्दूपन की दृष्टि से नहीं कर सकता, प्रत्युत राष्ट्रीयता की दृष्टि से, सब भारतियों के अधिकार और हित की दृष्टि से ही इस पर विचार किया जा सकता है। इसलिये मुझे यह कहने में ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं है कि कांग्रेस सब हितों का रक्षक होने का दावा करती है—अँगरेज़ों तक के हितों की, जब तक कि

वे भारत को अपना घर समझेंगे और लाखों मूक लोगों के हितों के विरोधी किसी हित का दावा न करेंगे—वह रक्षा करेगी।

प्रश्न—आपने गोलमेज़ परिषद् में देशी राज्यों की प्रजा के सम्बन्ध में कुछ क्यों नहीं कहा? मुझे भय है कि आपने उनके हितों का बलिदान कर दिया।

उत्तर—ठीक, वे लोग मुझ से गोलमेज़ परिषद् के सामने किसी शाब्दिक घोषणा की आशा नहीं करते थे, प्रत्युत नरेशों के सामने कुछ बातें रखने की आशा अवश्य रखते थे; जो कि मैं रख चुका हूँ। असफल होने पर ही मेरे कार्य की आलोचना करने का समय आवेगा। मुझे अपने ढंग से काम करने की इजाज़त होनी चाहिये। और मैं देशी राज्यों की प्रजा के लिये जो कुछ चाहता हूँ, गोलमेज़ परिषद् वह मुझे दे नहीं सकती। मुझे वह देशी नरेशों से लेना होगा। इसी तरह का प्रश्न हिन्दू मुस्लिम ऐक्य का है। मैं जो कुछ चाहता हूँ, उसके लिए मैं मुसलमानों के सामने घुटने टेक दूँगा, किन्तु वह मैं गोलमेज़ परिषद् के पास नहीं कर सकता। आपको जानना चाहिए कि मैं कुशल प्रतिपादक अर्थात् होशियार एडवोकेट या वकील हूँ और कुछ भी हो, यदि मैं असफल हुआ तो आप मुझ से कुछ सार ले सकते हैं।

प्रश्न—आपने चुनाव के अप्रत्यक्ष तरीके पर अपनी सहमति क्यों प्रकट करदी? क्या आप नहीं जानते कि नेहरू रिपोर्ट ने इसे अस्वीकार कर दिया है?

उत्तर—आपका प्रश्न अच्छा है। किन्तु यह तर्क की भाषा में आपके अव्यक्त मध्य को प्रकट करता है। अप्रत्यक्ष चुनाव को नेहरू रिपोर्ट में अकेला छोड़ दीजिये। वह एक सर्वथा जुदी वस्तु है। मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि मैंने जिस तरीके का प्रतिपादन किया है, उसकी दिन प्रति मुझ में वृद्धि हो रही है। आपको जो कुछ भी समझना चाहिये वह यह है कि यह सर्वथा बालिग़ मताधिकार से बँधा हुआ है, जिसका इसके बिना

असरकारक उपयोग नहीं हो सकता। कुछ भी हो आपके पास भारत की सब बालिग़ जनता में से स्वयं निर्वाचित ७,००,००० निर्वाचक होंगे। बिना मेरे तरीके के यह एक दुस्साध्य और अत्यन्त खर्चीला निर्वाचक मण्डल होगा। मेन के शब्दों में प्रत्येक ग्राम प्रजातन्त्र अपना मुख्तियार पसन्द करेगा और उसे देश की सर्व प्रधान व्यवस्थापिका सभा के लिये प्रतिनिधि चुनने की हिदायत करेगा।

कुछ भी हो, यह आवश्यक नहीं है कि जो कुछ इंगलैंड अथवा पाश्चात्य जगत के लिये उपयुक्त हो, वही भारत के लिये भी उपयुक्त हो। हम पश्चिमी सभ्यता के नक्काल क्यों बनें? हमारे देश की स्थिति सर्वथा भिन्न है, हमारे चुनाव का हमारा अपना विशेष तरीका क्यों न हो?

पागलपन

बम्बई के एकटिंग गवर्नर पर हमला करके फरग्यूसन कालेज के विद्यार्थी ने कौन सी अर्थ सिद्धि सोची होगी? अख़बारों में जो समाचार छपे हैं, उनके अनुसार तो केवल बदला लेने की वृत्ति थी—शोलापुर के फ़ौजी कानून का या ऐसे ही किसी दूसरे काम का। मान लीजिये कि गवर्नर की मृत्यु हो जाती, लेकिन उससे जो हो चुका है, वह नहीं हुआ है, ऐसा तो न होता। बदला लेने की यह कोशिश करके इस विद्यार्थी ने बैर बढ़ाया है। विद्याभ्यास का ऐसा दुरुपयोग करके उसने विद्या को लजाया है।

जिस परिस्थिति में हमला किया, उसका विचार करते हुए इस हमले में दगा भी था। विद्यार्थी फरग्यूसन कालेज के प्रति अपना धर्म भूला। गवर्नर फरग्यूसन कालेज के मेहमान थे। मेहमान को हमेशा अभय दान होता है। कहा जाता है कि अरब दुश्मन को भी, जब वह

मेहमान होता है, नहीं मारता । यह विद्यार्थी फरग्यूसन कालेज का विद्यार्थी होने के कारण गवर्नर को निमन्त्रण देनेवालों में गिना जायेगा । न्योता देने वाला अपने मेहमान को मारे, इससे अधिक भयंकर दशा और क्या हो सकती है ? क्या हिंसक मण्डल के किसी प्रकार की मर्यादा ही नहीं होती ? जो किसी भी मर्यादा का पालन नहीं करता उसे शोलापुर के फ़ौजी कानून या दूसरे अन्यायों की शिकायत करने का क्या अधिकार है ?

इस प्रकार कोई हमारे साथ विश्वासघात करे, तो हमें दुःख होगा । जिसकी हम अपने लिए इच्छा न रक्खें, वैसा व्यवहार दूसरों के साथ कैसे कर सकते हैं ? मुझे दृढ़ विश्वास है कि ऐसे कामों से हिन्दुस्तान को कीर्ति नहीं मिलती, अपकीर्ति प्राप्त होती है । ऐसे काम से स्वराज्य की योग्यता बढ़ती नहीं, घटती है; स्वराज्य दूर हटता है । ऐसे महान् और प्राचीन देश का स्वराज्य इतनी गोलियों से नहीं मिलेगा । हमें इतनी बात याद रखनी चाहिए कि, सिर्फ अंग्रेजों के हिन्दुस्तान से चले जाने का नाम ही स्वराज्य नहीं है । स्वराज्य का अर्थ है, हिन्दुस्तान का कारोबार जनता की ओर से और जनता के लिए चलाने की शक्ति । यह शक्ति केवल अंग्रेजों के जाने से या उनके नाश से नहीं प्राप्त होगी । करोड़ों बेज़बान किसानों के दुःख जानने से, उनकी सेवा करने से, उनकी प्रीति पाने से यह शक्ति प्राप्त होगी । मान लीजिए कि, एक दो हज़ार या इससे अधिक खूनी अंग्रेज़ मात्र का खून करने में समर्थ हों, तो भी क्या वे हिन्दुस्तान का राज-काज चला सकेंगे ? वे तो खून से मस्त होकर अपने मद में उन लोगों का खून ही करते रहेंगे, जो उन्हें पसन्द न होंगे । इससे हिन्दुस्तान की अनेक बुराइयाँ जिनके कारण हिन्दुस्तान पराधीन है, नहीं मिटेंगी ।

"महात्माजी का हुक्म"

एक अध्यापक लिखते हैं :—

'मेरी पाठशाला में लड़कों का एक छोटा-सा गिरोह है, जो नियमित रूप से कई महीनों से चर्खा-संघ को १००० गज़ अपने हाथों का कता हुआ सूत भेजा करता है; और वे इस तुच्छ सेवा को आपके प्रति अपने प्रेम के कारण ही करते हैं। यदि उनसे चर्खा चलाने का कोई कारण पूछता है, तो वे उत्तर देते हैं कि—'यह महात्माजी का हुक्म है। इसे मानना ही पड़ता है।' मैं समझता हूँ कि लड़कों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को हर तरह से प्रोत्साहन देना चाहिए। गुलामी के भाव में और इस प्रकार की वीर-पूजा अथवा निःशङ्क आज्ञा-पालन में बहुत अन्तर है। इन लड़कों की बड़ी लालसा है कि उनको आपके हाथों से लिखा हुआ आपका संदेश मिले, जिससे वे उत्साहित हो सकें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि, उनकी यह प्रार्थना स्वीकृत होगी।"

"मैं नहीं कह सकता कि, जो मनोवृत्ति इस पत्र से झलकती है, वह सद्भक्ति है अथवा अंधभक्ति। मैं ऐसे अवसरों को समझ सकता हूँ, जब किसी आज्ञा के पालन करने के कारणों की ज़रूरत पर तर्क-वितर्क न करके उसे मान लेना ही आवश्यक हो। यह सिपाही के लिए अत्यंत आवश्यक गुण है, कोई जाति उस समय तक उन्नति नहीं कर सकती, जब तक कि उसकी जनता में बहुतायत से यह गुण वर्तमान न हो। पर इस प्रकार के आज्ञा-पालन के अवसर सुसंगठित समाज में बहुत कम होते हैं और होना चाहिए। पाठशाला में बच्चों के लिए जो सबसे बुरी बात हो सकती है, वह यह है कि जो कुछ अध्यापक कहें, उसे उन्हें आँख बंद कर के मानना ही पड़ेगा। बात यह है कि यदि अपने आधीन के लड़के और लड़कियों की तर्क शक्ति को अध्यापक तेज करना चाहता है,

सो उसको चाहिए कि उनकी बुद्धि को हमेशा काम में लगाता रहे और उन्हें स्वतंत्र रूप से विचार करने का मौका देवे। जब बुद्धि का काम खतम हो जाता है, तब श्रद्धा का काम आरम्भ होता है। पर दुनियाँ में इस प्रकार के बहुत कम काम होते हैं, जिनके कारण हम बुद्धि द्वारा नहीं निकाल सकते। यदि किसी स्थान में कुओं का जल गन्दा हो और वहाँ के विद्यार्थियों को गर्म और साफ किया हुआ जल पीना पड़े; और उनसे इस प्रकार के जल पीने का कारण पूछा जावे और वे कहें कि, किसी महात्मा का हुक्म है, इसलिए हम ऐसा जल पीते हैं, तो कोई शिक्षक इस उत्तर को पसन्द नहीं कर सकता; और यदि यह उत्तर इस कल्पित अवस्था में गलत है, तो चर्खा चलाने के सम्बन्ध में भी लड़कों का यह उत्तर बिलकुल गलत है।

जब मैं अपनी महात्माई की गद्दी से उतार दिया जाऊँगा—जैसा मैं जानता हूँ कि बहुतेरे घरों में उतार दिया गया हूँ (बहुतेरे पत्र-प्रेषकों ने कृपा कर, मेरे प्रति अपनी श्रद्धा घट जाने की सूचना मुझे भी दे दी है)—तब मुझे भय है कि चर्खा भी उसके साथ ही साथ नष्ट हो जायगा। बात यह है कि कार्य मनुष्य से कहीं बड़ा होता है। सचमुच चर्खा मुझ से कहीं अधिक महत्व का है। मुझे बड़ा दुःख होगा, यदि मेरी किसी भद्दी गलती से अथवा मुझ से लोगों के रुष्ट हो जाने से, लोगों का मेरे प्रति सद्भाव कम हो जाय; और इस कारण चर्खे को भी नुकसान पहुँचे। इसलिए बहुत अच्छा हो, यदि लड़कों को उन सब विषयों पर स्वतंत्र विचार करने का मौका दिया जाय—जिन पर वे इस प्रकार विचार कर सकते हैं। चर्खा एक ऐसा विषय है, जिन पर उनको स्वतंत्र विचार करना चाहिए। मेरे विचार में इसके साथ भारत की जनता की भलाई का सवाल मिला हुआ है। इसलिए छात्रों को यहाँ की जनता की गहरी दरिद्रता को जानना चाहिए। उनको ऐसे गाँवों

को अपनी आँखों देखना चाहिए, जो तितर-बितर होते आ रहे हैं। उनको भारत की कितनी आबादी है, जानना चाहिए। उनको यह जानना चाहिए कि यह कितना बड़ा देश है और यहाँ के करोड़ों निवासियों की थोड़ी आमदनी में हम थोड़ी बढ़ती किस प्रकार कर सकते हैं। उनको देश के गरीबों और पददलितों के साथ अपने को मिला देने को सीखना चाहिए। उनको यह सीखना चाहिए कि, जो कुछ गरीब से गरीब आदमी को नहीं मिल सकता है, वह जहाँ तक हो सके; वे अपने लिए भी न लेवें। तभी वे चर्खा चलाने के गुण को समझ सकेंगे। तभी उनकी श्रद्धा प्रत्येक प्रकार के हमले को, जिसमें मेरे सम्बन्ध में विचार परिवर्तन भी है--बर्दाश्त कर सकेंगी। चर्खा का आदर्श इतना बड़ा और महान् है कि, उसे किसी एक व्यक्ति के प्रति सद्भाव पर निर्भर नहीं रखा जा सकता है। यह ऐसा विषय है जिस पर विज्ञान और अर्थशास्त्र की युक्तियों द्वारा भी विचार किया जा सकता है।

मैं जानता हूँ कि हम लोगों के बीच इस प्रकार की अंधभक्ति बहुत है और मैं आशा करता हूँ कि राष्ट्रीय पाठशालाओं के शिक्षक लोग मेरी इस चेतावनी पर ध्यान रखेंगे और अपने विद्यार्थियों को इस आलस्य से, कि वे किसी काम को केवल किसी ऐसे मनुष्य के करने के कारण ही किया करें, जिसे लोग बड़ा समझते हों, बचाने का प्रयत्न करेंगे।"

बुद्धि विकास बनाम बुद्धि विलास

त्रावणकोर और मद्रास के भ्रमण में, विद्यार्थियों तथा विद्वानों के सहवास में मुझे ऐसा लगा कि, मैं जो नमूने उनमें देख रहा था, वे बुद्धि-विकास के नहीं, किन्तु बुद्धि-विलास के थे। आधुनिक शिक्षा भी

हमें बुद्धि विलास सिखाती है; और बुद्धि को उलटे रास्ते ले जाकर उसके विकास को रोकती है। सेगाँव में पड़ा-पड़ा मैं जो अनुभव ले रहा हूँ, वह मेरी इस बात की पुष्टि करता दिखाई देता है। मेरा अवलोकन तो वहाँ अभी चल ही रहा है, इसलिए इस लेख में आये हुए विचार उन अनुभवों के ऊपर आधार नहीं रखते। मेरे यह विचार तो जब मैंने फिनिक्स संस्था की स्थापना की; तभी से हैं, याने १९०४ से।

बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान आदि अवयवों के सदुपयोग से ही हो सकता है, अर्थात् शरीर का ज्ञानपूर्वक उपयोग करते हुए बुद्धि का विकास सबसे अच्छी तरह और जल्दी से होता है। इसमें भी यदि पारमार्थिकवृत्ति का मेल न हो तो बुद्धि का विकास एकतरफा होता है। पारमार्थिक वृत्ति हृदय याने आत्मा का क्षेत्र है। अतः यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के शुद्ध विकास के लिए आत्मा और शरीर का विकास साथ-साथ तथा एक गति से होना चाहिए। इसलिए कोई अगर यह कहे कि ये विकास एक के बाद एक हो सकते हैं, तो यह ऊपर की विचार श्रेणी के अनुसार ठीक नहीं होगा।

हृदय, बुद्धि और शरीर के बीच मेल न होने से जो दुःखद परिणाम आया है, वह प्रगट है, तो भी उलटे सहवास के कारण हम उसे देख नहीं सकते। गाँवों के लोगों का पालन-पोषण पशुओं में होने के कारण वे मात्र शरीर का उपयोग यंत्र की भांति किया करते हैं, बुद्धि का उपयोग वे करते ही नहीं और उन्हें करना नहीं पड़ता। हृदय की शिक्षा नहीं के बराबर है, इसलिए उनका जीवन यूं ही गुजर रहा है, जो न इस काम का रहा है न उस काम का। और दूसरी ओर आधुनिक कॉलेजों की शिक्षा पर जब नजर डालते हैं तो वहाँ बुद्धि के विकास के नाम पर बुद्धि के विलास की तालीम दी जाती है। समझते हैं कि बुद्धि

के विकास के साथ शरीर का कोई सम्बन्ध नहीं। पर शरीर को कसरत तो चाहिए ही। इसलिए उपयोग रहित कसरतों से उसे निभाने का मिथ्या प्रयोग होता है। पर चारों ओर से मुझे इस तरह के प्रमाण मिलते ही रहते हैं कि स्कूल कॉलेजों से पास होकर जो विद्यार्थी निकलते हैं, वे मेहनत-मशक्कत के काम में मजदूरों की बराबरी नहीं कर सकते। जरा सी मेहनत की तो माथा दुखने लगता है और धूप में घूमना पड़े तो चक्कर आने लगता है। यह स्थिति स्वाभाविक मानी जाती है। बिना जुते खेत में जैसे घास उग आता है, उसी तरह हृदय की वृत्तियाँ आप ही उगती और कुम्हलाती रहती हैं और यह स्थिति दयनीय माने जाने के बदले प्रशंसनीय मानी जाती है।

इसके विपरीत अगर बचपन से बालकों के हृदय की वृत्तियों को ठीक तरह से मोड़ा जाय, उन्हें खेती, चर्खा आदि उपयोगी कामों में लगाया जाय और जिस उद्योग द्वारा उनका शरीर खूब कसा जा सके, उस उद्योग की उपयोगिता और उसमें काम आने वाले औजारों वगैरह की बनावट आदि का ज्ञान उन्हें दिया जाय, तो उनकी बुद्धि का विकास सहज ही होता जाय और नित्य उसकी परीक्षा भी होती जाय। ऐसा करते हुए जिस गणित शास्त्र आदि के ज्ञान की आवश्यकता हो वह उन्हें दिया जाय, और विनोद के लिए साहित्यादि का ज्ञान भी देते जाँय, तो तीनों वस्तुएँ समतोल हो जांय और कोई अङ्ग उनका अविकसित न रहे। मनुष्य न केवल बुद्धि है, न केवल शरीर न केवल हृदय या आत्मा। तीनों के एक समान विकास में ही मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध होगा, इसमें सच्चा अर्थ शास्त्र है। इसके अनुसार यदि तीनों विकास एक साथ हों तो हमारी उलझी हुई समस्याएँ अनायास सुलझ जाँय। यह विचार या इस पर अमल तो देश को स्वतन्त्रता मिलने के बाद होगा, ऐसी मान्यता अपूर्ण हो सकती है। करोड़ों मनुष्यों को

ऐसे-ऐसे कामों में लगाने से ही स्वतन्त्रता का दिन हम नजदीक ला सकते हैं।

विचार नहीं प्रत्यक्ष कार्य

सन् १६२० में मैंने वर्तमान शिक्षा पद्धति की काफ़ी कड़े शब्दों में निन्दा की थी। और आज चाहे कितने ही थोड़े अंशों में क्यों न हो, देश के सात प्रान्तों में उन मंत्रियों द्वारा उस पर असर डालने का मुझे का मिला है, जिन्होंने मेरे साथ सार्वजनिक कार्य किया है और देश की स्वाधीनता के उस महान युद्ध में जिन्होंने मेरे साथ तरह-तरह की मुसीबतें उठाई हैं, आज मुझे भीतर से एक ऐसी दुर्दमनीय प्रेरणा हो रही है कि मैं अपने इस आरोप को सिद्ध करके दिखा दूं कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति नीचे से लेकर ऊपर तक मूलतः बिलकुल गलत है और 'हरिजन' में जिस बात को प्रगट करने का अब तक प्रयास करता रहा हूँ और फिर भी ठीक-ठीक प्रगट नहीं कर सका, वही मेरे सामने सूर्यवत् स्पष्ट हो गई है। और प्रतिदिन उसकी सचाई मुझ पर अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है। इसलिए मैं देश के शिक्षा-शास्त्रियों से यह कहने का साहस नहीं कर रहा हूँ कि जिनका इसमें किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं है और जिन्होंने अपने हृदय को बिलकुल खुला रखा है, वे मेरे बताये इन दो प्रश्नों का अध्ययन करें और इसमें वर्तमान शिक्षा के कारण बनी हुई और स्थिर कल्पना को अपनी विचार शक्ति का बाधक न होने दें। मैं जो कुछ लिख रहा हूँ और कह रहा हूं इस पर विचार करते समय वे यह न समझें कि मैं शास्त्रीय और कट्टर दृष्टि से शिक्षा के विषय में बिलकुल अनभिज्ञ हूँ। कहा जाता है कि ज्ञान अक्सर बच्चों के मुंह से प्रगट होता है। इसमें कवि की अत्युक्ति हो सकती है, पर इसमें शक नहीं कि कभी-कभी दरअसल बच्चों के मुंह से प्रगट होता

है। विशेषज्ञ उसे सुधार कर बाद में वैज्ञानिक रूप दे देते हैं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मेरे प्रश्नों पर निरपेक्ष और केवल सारासार की दृष्टि से विचार हो। यों तो पहले भी मैं इन सवालों को पेश कर चुका हूँ, पर यह लेख लिखते समय जिन शब्दों में वे मुझे सूझ रहे हैं, मैं फिर बालकों के सामने पेश कर देता हूँ।

१—सात साल में प्राथमिक शिक्षा के उन सब विषयों की पढ़ाई हो जो आज मैट्रिक तक होती है। पर उनमें से अँग्रेज़ी को हटा कर उसके स्थान पर किसी उद्योग (धंधे) की शिक्षा बच्चों को इस तरह दी जाय कि जिससे ज्ञान की तमाम शाखाओं में उनका आवश्यक मानसिक विकास हो जाय। आज प्राथमिक माध्यमिक और हाईस्कूल शिक्षा के नाम पर जो पढ़ाई होती है, उसकी जगह यह इस पढ़ाई को ले लें।

यह पढ़ाई स्वावलम्बी हो सकती है और यह ऐसी होनी ही चाहिए। वास्तव में स्वावलम्बन ही उसकी सचाई की सच्ची कसौटी है।

नवयुवकों से

आज कल कहीं-कहीं नवयुवकों की यह आदत सी पड़ गयी है कि बड़े बूढ़े जो कुछ कहें, उसको नहीं मानना चाहिए। मैं तो यह कहना नहीं चाहता कि उनके ऐसा मानने का बिल्कुल कोई कारण ही नहीं है। लेकिन देश के युवकों को इस बात से आगाह जरूर करना चाहता हूँ कि बड़े-बूढ़े स्त्री-पुरुषों द्वारा कही हुई हर एक बात को वे सिर्फ इसी कारण मानने से इन्कार न करें कि उसे बड़े-बूढ़ों ने कहा है। अक्सर बुद्धि की बात बच्चों तक के मुँह से निकल जाती है, उसी तरह वह बड़े-बूढ़ों के मुँह से भी निकल जाती है। स्वर्ण नियम तो

यही है कि हर एक बात को बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर कसी जाय, फिर वह चाहे किसी की कही या बताई हुई क्यों न हो। कृत्रिम-साधनों से सन्तति-निग्रह की बातों पर मैं अब आता हूँ। हमारे अन्दर यह बात जमा दी गयी है कि अपनी विषय-वासना की पूर्ति करना भी हमारा वैसा ही कर्त्तव्य है, जैसे वैध रूप में लिए हुए कर्ज को चुकाना हमारा कर्त्तव्य है और अगर हम ऐसा न करें, तो उससे हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जायगी। इस विषयेच्छा को सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से पृथक माना जाता है और सन्तति निग्रह के लिए कृत्रिम साधनों के समर्थक का कहना है, कि जब तक सहवास करने वाले स्त्री-पुरुष को बच्चे पैदा करने की इच्छा न हो, तब तक गर्भ धारण नहीं होने देना चाहिए। मैं बड़े साहस के साथ यह कहता हूँ कि यह ऐसा सिद्धान्त है, जिसका कहीं भी प्रचार करना बहुत खतरनाक है और हिन्दुस्तान जैसे देश के लिए तो जहाँ मध्य श्रेणी के पुरुष अपनी जननेन्द्रिय का दुरुपयोग कर अपना पुरुषत्व ही खो बैठे हैं, यह और भी बुरा है। अगर विषयेच्छा की पूर्त्ति कर्त्तव्य हो तो जिस अप्राकृतिक व्यभिचार के बारे में कुछ समय पहले मैंने लिखा था, वह तथा काम पूर्त्ति के अन्य उपायों को भी ग्रहण करना होगा। पाठकों को याद रखना चाहिए कि बड़े-बड़े आदमी भी ऐसे काम पसन्द करते मालूम पड़ रहे हैं, जिन्हें आम तौर पर वैषयिक पतन माना जाता है। संभव है कि इस बात से पाठकों को कुछ ठेस लगे। लेकिन अगर किसी तरह इस पर प्रतिष्ठा की छाप लग जाय तो बालक बालिकाओं में अप्राकृतिक व्यभिचार का रोग बुरी तरह फैल जायगा। मेरे लिए तो कृत्रिम साधनों के उपयोग से कोई खास फ़र्क नहीं है, जिन्हें लोगों ने अभी तक अपनी विषयेच्छा पूर्ति के लिए अपनाया है और जिनके ऐसे कुपरिणाम आए हैं कि बहुत कम लोग उनसे परिचित हैं। स्कूली लड़के-लड़कियों में गुप्त व्यभिचार

ने क्या तूफ़ान मचाया है, यह मैं जानता हूं। विज्ञान के नाम पर संतति निग्रह के कृत्रिम साधनों के प्रवेश और प्रख्यात सामाजिक नेताओं के नाम से उनके छपने से स्थिति आज और भी पेचीदा हो गयी है। और सामाजिक जीवन की शुद्धता के लिए सुधारकों का काम बहुत कुछ असम्भव सा होगया है। पाठकों को यह बताकर मैं अपने पर किये गये किसी विश्वास का भंग नहीं कर रहा हूँ कि स्कूल कालेजों में ऐसी अविवाहित जवान लड़कियाँ भी हैं, जो अपनी पढ़ाई के साथ साथ कृत्रिम संतति निग्रह के साहित्य व मासिक पत्रों को भी बड़े चाव से पढ़ती रहती हैं और कृत्रिम साधनों को अपने साथ रखती हैं। इन साधनों को विवाहित स्त्रियों तक ही सीमित रखना असम्भव है। और विवाह की पवित्रता तो तभी लोप हो जाती है, जब कि उसके स्वाभाविक परिणाम सन्तानोत्पत्ति को छोड़कर महज अपनी पाशविक विषय-वासना की पूर्ति ही उसका सब से बड़ा उपयोग मान लिया जाता है।

मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो विद्वान् स्त्री-पुरुष संतति निग्रह के कृत्रिम साधनों के पक्ष में बड़ी लगन के साथ प्रचार-कार्य कर रहे हैं, वे इस झूठे विश्वास के साथ कि इससे उन बेचारी स्त्रियों की रक्षा होती है, जिन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध बच्चों का भार सम्हालना पड़ता है, देश के युवकों की ऐसी हानि कर रहे हैं, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती। जिन्हें अपने बच्चों की संख्या सीमित करने की ज़रूरत है, उन तक तो आसानी से वे पहुँच भी नहीं सकेंगे। क्योंकि हमारे यहां के ग़रीब स्त्रियों को पश्चिमी स्त्रियों की भांति ज्ञान या शिक्षा कहाँ प्राप्त है? यह भी निश्चय है कि मध्य श्रेणी की स्त्रियों की ओर से भी यह प्रचार कार्य नहीं हो रहा है, क्योंकि इस ज्ञान की उन्हें उतनी ज़रूरत ही नहीं है, जितनी कि ग़रीब लोगों को है।

इस प्रचार कार्य में सबसे बड़ी जो हानि हो रही है, वह तो पुराने आदर्श को छोड़कर उसकी जगह एक ऐसे आदर्श को अपनाना है, जो अगर अमल में लाया गया तो जाति का नैतिक तथा शारीरिक सर्वनाश निश्चित है। प्राचीन शास्त्रों ने व्यर्थ वीर्यनाश को जो भयावह बताया है, वह कुछ अज्ञान जनित अन्धविश्वास नहीं है। कोई किसान अपने पास के सबसे बढ़िया बीज को बंजर जमीन में बोवे, या बढ़िया खाद से खूब उपजाऊ बने हुए किसी खेत के मालिक को इस शर्त पर बढ़िया बीज मिले कि उसके लिए उसकी उपज करना ही संभव न हो, तो उसे हम क्या कहेंगे? परमेश्वर ने कृपा करके पुरुष को तो बहुत बढ़िया बीज दिया है और स्त्री को ऐसा बढ़िया खेत दिया है कि जिससे बढ़िया इस भूमण्डल में कोई मिल ही नहीं सकता। ऐसी हालत में मनुष्य अपनी इस बहुमूल्य सम्पत्ति को व्यर्थ जाने दे तो यह उसकी दण्डनीय मूर्खता है। उसे तो चाहिए कि अपने पास के बढ़िया से बढ़िया हीरे जवाहरात अथवा अन्य मूल्यवान् वस्तुओं की वह जितनी देख भाल रखता हो, उससे भी ज्यादा इसकी सार सम्हाल करे। इसी प्रकार वह स्त्री भी अक्षम्य मूर्खता की ही दोषी है, जो अपने जीवन उत्पादक क्षेत्र में जान बूझकर व्यर्थ जाने देने के विचार से बीज को ग्रहण करे। दोनों ही उन्हें मिले हुए गुणों का दुरुपयोग करने के दोषी होंगे और उनसे उनके ये गुण छिन जायंगे। विषयेच्छा एक सुन्दर और श्रेष्ठ वस्तु है, इसमें शर्म की कोई बात नहीं। किन्तु वह है सन्तानोत्पत्ति के लिए। इसके सिवाय इसका कोई उपयोग किया जाय तो वह परमेश्वर और मानवता के प्रति पाप होगा। सन्तति-निग्रह के कृत्रिम उपाय किसी न किसी रूप में पहले भी थे और बाद में भी रहेंगे, परन्तु पहले उनका उपयोग पाप माना जाता था। व्यभिचार को सद्गुण कहकर उसकी प्रशंसा करने का काम हमारे ही युग के लिए सुरक्षित

रक्खा हुआ था ! कृत्रिम साधनों के हिमायती हिन्दुस्तान के नौजवानों की जो सबसे बड़ी हानि कर रहे हैं, वह उनके दिमाग में ऐसी विचार धारा भर देना है, जो मेरे ख्याल में ग़लत है। भारत के नौजवान स्त्री-पुरुषों का भविष्य उनके अपने ही हाथों में है। उन्हें चाहिए कि इस झूठे प्रचार से सावधान हो जायँ और जो बहुमूल्य वस्तु परमेश्वर ने उन्हें दी है, उसकी रक्षा करें और जब वे उसका उपयोग करना चाहें तो सिर्फ उसी उद्देश्य से करें कि जिसके लिए वह उन्हें दिया गया है।

विद्यार्थी संगठन

विद्यार्थियों को मैंने सबसे पीछे के लिये रक्खा है। मैंने हमेशा उनसे निकट सम्पर्क स्थापित किया है, वे मुझे जानते हैं और मैं उन्हें जानता हूँ। उन्होंने मुझे अपनी सेवायें दी हैं। कॉलेज से पढ़ कर निकलने वाले बहुत से आज मेरे समादरणीय साथी हैं। मैं जानता हूँ कि वे भविष्य की आशाएँ हैं। असहयोग की आँधी के ज़माने में उन्हें स्कूल और कॉलेज छोड़ने का आह्वान किया गया था। कुछ प्रोफेसर और विद्यार्थी जो कांग्रेस के इस आह्वान पर बाहर आ गये थे, साबित-कदम रहे और उससे उन्होंने देश के लिए और स्वयं अपने लिए काफ़ी लाभ उठाया। वह आह्वान फिर नहीं दुहराया गया। इसका कारण यह था कि उसके लिए अनुकूल वातावरण नहीं था। लेकिन अनुभव ने यह बतला दिया है कि वर्तमान शिक्षा यद्यपि झूठी और कृत्रिम है तो भी देश के नौजवानों पर उसका मोह बहुत ही अधिक बढ़ा हुआ है। कॉलेज की शिक्षा से उनको कमाई के साधन मिल जाते हैं। नौकरी के मोहक क्षेत्र एवम् भद्र समाज में प्रवेश पाने का यह एक तरह का पर-वाना है। ज्ञान प्राप्त करने की उत्कट पिपासा प्रचलित परिपाटी पर चले

बिना पूरी हो नहीं सकती थी । मातृ-भाषा का स्थान कोने में बैठी हुई एक सर्वथा विदेशी भाषा का ज्ञान करने में अपने बहुमूल्य वर्ष बरबाद कर देने की वे परवाह नहीं करते । इसमें कुछ पाप है—यह वे कभी अनुभव नहीं करते । उन्होंने और उनके अध्यापकों ने अपना यह खयाल बना रक्खा है कि आधुनिक विचार राशि और आधुनिक विज्ञान में प्रवेश करने के लिये देशी भाषाएँ बेकार हैं, निकम्मी हैं । मुझे आश्चर्य है कि जापानी लोग अपना काम किस तरह चलाते होंगे, क्यों कि जहाँ तक मुझे मालूम है, वहाँ सारी शिक्षा जापानी भाषा में ही दी जाती है । चीन के सर्वेसर्वा सेनाधिपति को तो अंग्रेजी का कुछ ज्ञान है भी, तो वह नहीं के ही बराबर है ।

लेकिन, विद्यार्थी जैसे भी हैं, इन्हीं नवयुवक-युवतियों में से देश के भावी नेता निकलने वाले हैं । दुर्भाग्यवश, उन पर हर तरह की हवा का असर आसानी से हो जाता है । अहिंसा उन्हें बहुत आकर्षक प्रतीत नहीं होती । घूंसे के जवाब में घूंसा; या दो के बदले में कम-से-कम एक थप्पड़ मारने की बात; सहज ही उनकी समझ में आ जाती है । उसका परिणाम तत्काल निकलता दिखाई दे जाता है, यद्यपि वह क्षणिक होता है, यह पशुबल का कभी समाप्त न होने वाला वह प्रयोग है, जो हम जानवरों के बीच होता देखते रहते हैं; और युद्ध में, जो कि अब विश्वव्यापी हो गया है, मनुष्य-मनुष्य के बीच चलता देख रहे हैं । अहिंसा की अनुभूति के लिए धैर्य के साथ खोज करने और उससे भी अधिक धैर्य और कष्ट-सहन के साथ उसका अमल करने की आवश्यकता है । जिन कारणों से मैंने किसान-मजदूरों को अपनी ओर खींचने की प्रतिद्वन्द्विता से अपने को रोका, उन्हीं कारणों से मैं विद्यार्थियों के सहयोग को अपनी ओर खींचने की प्रतिद्वन्द्विता में भी नहीं पड़ा, बल्कि मैं स्वयं उन्हीं की तरह एक विद्यार्थी हूं । सिर्फ मेरी यूनिवर्सिटी उनकी से

निराली है, उन्हें मेरी इस यूनिवर्सिटी में आने और मेरी शोध में सहयोग देने के लिए मेरी ओर से खुला निमंत्रण है। उसमें प्रवेश पाने की शर्तें ये हैं:—

१—विद्यार्थियों को दलगत राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए। वे विद्यार्थी हैं, शोधक हैं, राजनीतिज्ञ नहीं।

२—वे राजनैतिक हड़तालों में शरीक न हों। उनके अपने श्रद्धा भाजन नेता एवं वीर-पुरुष अवश्य हों, लेकिन उनके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन, उनके उत्तम कार्यों का अनुसरण द्वारा होना चाहिए। उनके जेल जाने, स्वर्गवासी होने अथवा फाँसी पर चढ़ाये जाने तक पर, हड़-ताल करके नहीं। अगर उनका शोक असहनीय हो; और सब विद्यार्थी समान रूप से अनुभव करते हों तो अपने प्रिंसिपल की स्वीकृति से मौके पर स्कूल-कॉलेज बन्द किये जा सकते हैं। अगर प्रिंसिपल उनकी बात न सुने, तो उन्हें अधिकार है कि वे शिष्टता पूर्वक इन स्कूल कालेजों को छोड़ जावें और जब तक उनके व्यवस्थापक पछता कर, उन्हें वापिस न बुलायें, तब तक वापिस न जायें। जो विद्यार्थी इनका साथ न दें, उनके अथवा अधिकारियों के विरुद्ध किसी भी हालत में वे बल-प्रयोग न करें। उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि, यदि उनमें आपस में एकता और उनके आचरण में शिष्टता कायम रही तो उनकी विजय निश्चित है।

३—उन सब को शास्त्रीय, वैज्ञानिक ढङ्ग से कताई-यज्ञ करना चाहिए। उनके औज़ार हमेशा स्वच्छ, साफ़ और व्यवस्थित रहें; और सम्भव हो, तो वे अपने औज़ार खुद ही बनाना भी सीख लें। उनका सूत स्वभावतः ही सर्वोच्च कोटि का होगा। वे कताई सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन कर, उसके सब आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और राजनैतिक पहलुओं को अच्छी तरह समझने की कोशिश करेंगे।

४—वे हमेशा खादी ही काम में लावेंगे और सब तरह की देशी, विदेशी मिलों की चीज़ें छोड़ कर, गाँवों में बनी चीज़ें ही बरतेंगे।

५—वे दूसरों पर 'वन्देमातरम्' गान अथवा अपना राष्ट्रीय झंडा जबरदस्ती न लादेंगे। वे स्वयं राष्ट्रीय झण्डे वाले बटन लगायें, लेकिन दूसरों पर इसके लिए जबरदस्ती न करें।

६—तिरंगे झण्डे के सन्देश को वे अपने जीवन में उतारेंगे; और साम्प्रदायिक अथवा छुआछूत की भावना को कभी भी अपने हृदय में स्थान न देंगे। दूसरे धर्म के विद्यार्थियों तथा हरिजनों के साथ वे अपने सम्बन्धियों की तरह सच्चे स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करेंगे।

७—वे अपने किसी पड़ौसी के चोट लग जाने पर ध्यान पूर्वक उसकी तात्कालिक चिकित्सा करेंगे और अपने पड़ोस के गाँव में मेहतर का सफाई का काम करेंगे और वहाँ के बालकों और प्रौढ़ों को पढ़ाने का काम भी करेंगे।

८—वे राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी का, उसके हिन्दी और उर्दू के दुहरे अध्ययन करेंगे, जिससे कि हिन्दी उर्दू भाषी सभी जगहें उन्हें अनुकूल प्रतीत हों।

९—वे जो कुछ भी नई बात सीखेंगे, उसका अपनी मातृ-भाषा में अनुवाद करेंगे और अपने साप्ताहिक भ्रमण के मौके पर गाँव वालों को पढ़ सुनायेंगे।

१०—वे कुछ भी काम छिपा कर या गुलरूप में न करेंगे, अपने सब व्यवहार में वे सन्देह की गुञ्जाइश न होने देंगे, वे अपना जीवन संयम और शुद्धता के साथ बितायेंगे, सब तरह का भय छोड़ देंगे, अपने कमज़ोर सहपाठी विद्यार्थी की रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहेंगे; और दंगा होने पर अपने जीवन को ख़तरे तक में डालकर अहिंसा के ज़रिये उसे बुझाने के लिए तत्पर रहेंगे, आन्दोलन जब अपनी पूरी तेज़ी पर पहुँच जायेगा, वे अपनी संस्थायें स्कूल कालेज छोड़ देंगे और ज़रूरत होने पर अपने देश की स्वतंत्रता के लिए अपने को बलिदान कर देंगे।

११—अपने साथ पढ़ने वाली विद्यार्थिनियों के प्रति अपना व्यवहार अतिशय सरल और शिष्ट रखेंगे।

विद्यार्थियों के लिये मैंने जो यह कार्यक्रम बनाया है, उसके लिए उन्हें कुछ समय अवश्य निकालना चाहिए। मैं जानता हूँ कि वे अपना बहुत सा समय सुस्ती में बरबाद करते हैं। पूरी पूरी मितव्ययता से काम लें तो वे कई घण्टे बचा सकते हैं। लेकिन मैं किसी भी विद्यार्थी पर कोई अनुचित भार नहीं डालना चाहता। इसलिए मैं देश-भक्त विद्यार्थियों को सलाह दूंगा कि वे अपना एक वर्ष—एक साथ नहीं, बल्कि अपने सारे अध्ययन काल में थोड़ा थोड़ा करके—इस काम में लगायें। वे देखेंगे कि इस तरह दिया हुआ उनका यह एक वर्ष बरबाद नहीं गया। इस प्रयत्न से उनके मानसिक, नैतिक और शारीरिक विकास में वृद्धि होगी और अपने अध्ययन काल में ही आज़ादी की लड़ाई में उनकी ओर से ठोस हिस्सा अदा होगा

हिन्दू विश्व विद्यालय में

हिन्दू विश्व विद्यालय की रजत जयन्ती के समारोह में दीक्षान्त भाषण देने के लिए जब महात्मा गान्धी उठे, तब पंडाल करतल ध्वनि से गूंज उठा। महामना मालवीय जी भी उपस्थित थे। महात्मा गान्धी ने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और कहा कि देश के सार्वजनिक जीवन को उनकी बहुत बड़ी देन है। उनका सबसे बड़ा कार्य हिन्दू विश्व विद्यालय बनारस है, इस विद्यालय के प्रेम से हमें हार्दिक प्रेम है। महामना मालवीय जी ने उसके लिए जब कभी मेरी सेवायें चाही हैं, मैंने दी हैं।

आपने कहा—"मुझे याद है कि आज से २५ वर्ष पूर्व मैं इस विश्व विद्यालय के स्थापना दिवस पर उपस्थित था। उस समय मुझे

आज की तरह महात्मा न कहा जाता था। (हंसी) जो लोग मुझे महात्मा कहने लगे, मुझे बाद में पता चला कि उन्होंने यह शब्द महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के महात्मा से लिया।''

आपने कहा—" मालवीय जी एक सफल व महान् भिखारियों में से एक हैं, विश्व विद्यालय के लिए कितना चन्दा कर सकते हैं, इसका अनुमान उस अपील से किया जा सकता है, जो उन्होंने केवल पाँच करोड़ रुपये के लिए निकाली थी।

छात्रों व अध्यापकों से

छात्रों और अध्यापकों को सम्बोधन करते हुए आपने कहा :— यदि मैं यह आलोचना करूँ कि आप लोगों ने अपने विचार प्रकट करने के लिए अंग्रेजी को अपना माध्यम क्यों चुना है, तो आशा है आप लोग मुझे क्षमा करेंगे। यहाँ पर आने से पहले मैं देर तक यही सोचता रहा कि मैं क्या बोलूँ। मुझे अत्यधिक संतोष होता यदि आप लोग अपना माध्यम हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू, संस्कृत, मराठी अथवा किसी भी भारतीय भाषा को बनाते।

आज अंगरेज भारत के साथ जो व्यवहार कर रहे हैं, उसके लिए हम उन्हें क्यों कोसें, जब कि हम गुलामों की तरह उनकी भाषा की नकल करते हैं, यदि कोई अँग्रेज हमारे बारे में यह कह दे कि हम अंग्रेजी हूबहू अंगरेजों की तरह बोलते हैं, तो हमें कितनी खुशी होती है, बस इससे ज्यादा हमारे पतन की और क्या मिसाल हो सकती है और असलियत यह है कि पं० मदनमोहन मालवीय और सर राधाकृष्णन् जैसे कुछ इने गिने ही अंगरेजी में प्रवीण होने का दावा कर सकते हैं।

जापान का उदाहरण

आपने कहा—मैं जानता हूँ कि अधिकांश शिक्षित भारतीय निर्दोष हैं और उन पर उक्त आक्षेप नहीं लगाया जा सकता, फिर भी मैं

जापान की मिसाल आप लोगों के सामने रखता हूँ-आज वह पश्चिम के लिए चुनौती का विषय बन चुका है, क्यों ? पश्चिम की सब चीज़ों का अन्धा अनुकरण करने से नहीं। उसने अपनी भाषा के ज़रिये पश्चिम की अच्छी बातें सीखीं और आज उसे ही चुनौती दे रहा है। जापान ने जो उन्नति की है उससे मैं सन्तुष्ट हूँ। कुछ भी सीखने से पहिले अंग्रेजी पढ़ने पर जो जोर दिया जाता है, उससे कोई फायदा नहीं होता और राष्ट्र के युवकों की शक्ति व्यर्थ जाती है। उनकी शक्ति का अन्य उपयोगी चीजों में व्यय किया जा सकता है। जब कभी देश के नेता जनता में अंग्रेजी में भाषण दिया करते थे, उस समय सहिष्णुता और शिष्टाचार के कारण लोग उन्हें सुन लिया करते थे।

छात्रों में अनुशासन

आपने कहा—' मैंने देखा है कि आजकल छात्रों में अनुशासन बिल्कुल नहीं पाया जाता। जब हम शिक्षित हैं, तब ऐसा क्यों है ? मेरी राय में इसका कारण यह है कि हमारी शिक्षा हम पर भार रूप हो रही है और इसीलिए हमारा दम घुट रहा है। मुझे खेद है कि आज बनारस विश्व विद्यालय में भी अङ्गरेजी का जोर है।

भाषा का झगड़ा

आपने कहा—" मुझे उर्दू में फारसी के और हिन्दी में संस्कृत के अधिक से अधिक शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति पसन्द नहीं है। यह काम एक दम बन्द होना चाहिए। हमें उस सादी हिन्दुस्तानी का विकास करना चाहिए, जिसे हर कोई समझ सके। भारतीय विश्व विद्यालयों के सम्बन्ध में मेरी कोई ऊँची राय नहीं है। वे प्राय: पाश्चात्य संस्कृति और दृष्टिकोण के स्याही चूस हैं। आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज के लोग जहाँ कहीं जाते हैं, अपने विश्व विद्यालयों की परम्पराएँ साथ में लेजाते हैं,

लेकिन भारतीय विश्व विद्यालय के लोगों में यह चीज़ नहीं है। मैं पूछता हूँ कि क्या बनारस विश्व विद्यालय के छात्र अलीगढ़ विश्व विद्यालय के छात्रों के साथ मिल-जुल सकते हैं? क्या हिन्दू विश्व विद्यालय के छात्र बनारस पहुँच कर अपनी प्रान्तीय विभिन्नताओं और संस्कृतियों को भूल जाते हैं? क्या वे अपने अन्दर कोई नवीनता अथवा भिन्नता पैदा कर लेते हैं? क्या उनमें वह विशालता पाई जाती है, जो हिन्दू धर्म की विरासत है? यदि वे उन प्रश्नों का उत्तर हाँ में दे सकते हैं, तो निस्सन्देह उनकी "कुलभूमि" उन पर नाज़ कर सकती है और उन पर यह विश्वास किया जा सकता है, कि वे शान्ति, सद्भावना और मानवीयता का सन्देश विश्व में फैला सकेंगे।

प्रश्न पिटारी

(क) विद्यार्थी और आने वाली लड़ाई

प्रश्न—कालेज का विद्यार्थी होते हुए भी मैं कांग्रेस का चवन्नी का मेम्बर हूँ। आप कहते हैं, कि जब तक तुम पढ़ रहे हो, तब तक आने वाली लड़ाई में तुम्हें कोई क्रियात्मक भाग नहीं लेना चाहिए, तो फिर आप विद्यार्थियों से आज़ादी के आन्दोलन में क्या हिस्सा लेने की आशा रखते हैं?

उत्तर—इस सवाल में विचार की गड़बड़ है। लड़ाई तो अब भी जारी है और जब तक राष्ट्र को उसका जन्मसिद्ध अधिकार न मिल जायगा, तब तक जारी रहेगी। सविनय भंग लड़ने के बहुत से तरीक़ों में से एक है। जहाँ तक आज मैं सोच सकता हूँ, मेरा इरादा विद्यार्थियों को पढ़ाई छुड़ाकर निकाल लेने का नहीं है। करोड़ों आदमी सविनय भंग में शामिल नहीं होंगे। मगर करोड़ों अनेक प्रकार से मदद करेंगे।

(१) विद्यार्थी स्वेच्छा से अनुशासन पालने की कला सीखकर राष्ट्रीय काम के अलग अलग विभागों के नेता बनने के लिए अपने को क़ाबिल बना सकते हैं।

(२) वे पढ़ाई पूरी करने के बाद धन कमाने के बजाय राष्ट्र का सेवक बनने का लक्ष्य रख सकते हैं।

(३) वे अपने खर्चे में से एक ख़ास हिस्सा राष्ट्रीय कोष के लिए निकाल सकते हैं।

(४) वे आपस में कौमी, प्रान्तीय और जातीय एकता बढ़ा सकते हैं और अपने जीवन में अछूतपन का ज़रा भी निशान न रहने देकर हरिजनों के साथ भाई चारा पैदा कर सकते हैं।

(५) वे नियमित रूप से कात सकते हैं और सब तरह का कपड़ा छोड़कर प्रमाणित खादी ही इस्तेमाल कर सकते हैं और खादी फेरी भी कर सकते हैं।

(६) वे हररोज़ नहीं, तो हर सप्ताह समय निकालकर अपनी संस्थाओं के नज़दीक के गाँव या गाँवों की सेवा कर सकते हैं और छुट्टियों में एक ख़ास वक्त राष्ट्रीय सेवा में दे सकते हैं।

अलबत्ता ऐसा समय आ सकता है कि जैसा मैंने पहले किया था कि विद्यार्थियों से पढ़ाई छुड़ा लेना ज़रूरी हो जाये। हालांकि यह सम्भावना दूर की है, फिर भी अगर मेरी चली, तो यह नौबत कभी नहीं आने वाली है। हाँ, ऊपर बताये हुए ढंग से विद्यार्थी पहले ही अपने को योग्य बना लेंगे तो बात दूसरी है।

(ख) अहिंसा बनाम स्वाभिमान।

प्रश्न—मैं एक विश्व विद्यालय का छात्र हूँ। कल शाम को हम कुछ लोग सिनेमा देखने गये थे। खेल के बीच में ही हम में से दो

बाहर गये और अपनी जगहों पर रूमाल छोड़ गये। लौटने पर हमने देखा कि दो अंग्रेज़ सिपाही उन बैठकों पर बेतकल्लुफ़ी से कब्जा किये हुए हैं। उन्होंने हमारे मित्रों की साफ़-साफ़ चेतावनी और अनुनय विनय की कुछ भी परवाह नहीं की। जब जगह खाली करने के लिए, कहा गया, तो उन्हों ने इन्कार ही न किया, लड़ने को भी आमादा हो गये। उन्होंने सिनेमा के मैनेजर को भी धमका दिया। वह हिन्दुस्तानी था, इसलिए आसानी से दब गया, अन्त में छावनी का अफ़सर बुलाया गया, तब उन्हों ने जगह खाली की। वह न आया होता तो हमारे सामने दो ही उपाय थे। या तो हम मारपीट पर उतर पड़ते और स्वाभिमान की रक्षा करते या दबकर दूसरी जगह चुपचाप बैठ जाते। पिछली बात में बड़ा अपमान होता।

उत्तर—मैं स्वीकार करता हूँ कि इस पहेली को हल करना मुश्किल है, ऐसी स्थिति का अहिंसक तरीके पर मुकाबला करने के दो उपाय सूझते हैं। पहला यह कि जब तक जगहें खाली न हों, अपनी बात पर मज़बूती से अड़े रहना। दूसरा यह कि जगह छीन लेने वालों के सामने जान बूझकर इस तरह खड़ा हो जाना कि उन्हें तमाशा दिखाई न दे। दोनों सूरतों में आपकी पिटाई होने का जोखम है। मुझे अपने उत्तर से सन्तोष नहीं है। मगर हम जिस विशेष परिस्थिति में हैं, उसमें इससे काम चल जायेगा। बेशक, आदर्श जवाब तो यह है, कि निजी अधिकार छिन जाने की हम परवाह न करें, बल्कि छीनने वालों को समझायें। वे हमारी न सुनें, तो सम्बन्धित अधिकारियों से शिकायत करदें और वहां भी न्याय न मिले तो मामला ऊँची से ऊँची अदालत में ले जायें। यह कानून का रास्ता है। समाज की अहिंसक कल्पना में इसकी मनाही नहीं है। क़ानून को अपने हाथ में न लेना असल में

अहिंसक मार्ग ही है। पर इस देश में आदर्श और वस्तु स्थिति का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि जहाँ गोरों का और ख़ास तौर पर गोरे सिपाहियों का मामला हो वहाँ हिन्दुस्तानियों को न्याय मिलने की प्रायः कुछ भी आशा नहीं हो सकती। इसलिए जैसा मैंने सुझाया है, कुछ वैसा ही करने की ज़रूरत है। मगर मैं जानता हूँ कि जब हममें सच्ची अहिंसा होगी, तो कठिन परिस्थिति में होने पर भी हमें बिना प्रयत्न के ही कोई अहिंसक उपाय सूझे बिना नहीं रहेगा।

(ग) छुट्टियों का उपयोग किस तरह किया जावे ?

प्रश्न—छुट्टी के दिनों में छात्रगण क्या कर सकते हैं? वे अध्ययन करना नहीं चाहते और लगातार कातने से तो थक जायेंगे।

उत्तर—अगर वे कातने से थक जाते हैं, तो इससे जाहिर होता है कि उन्होंने इसके जीवनदायक तत्वों को और इसके आन्तरिक आकर्षण को नहीं समझा है, इसे समझने में क्या दिक्कत है कि काता हुआ हर एक गज़ सूत कौम की दौलत को बढ़ाता था? एक गज़ सूत यों कोई बड़ी चीज़ नहीं है, पर चूंकि यह श्रम का सबसे सरल रूप है, इसलिये इसे गुणीभूत किया—बढ़ाया—जा सकता है। इस तरह कातने का संभाव्य मूल्य बहुत ज्यादा है। छात्रों से चर्खा की यंत्ररचना समझने की और उसे अच्छी दशा में रखने की उम्मीद की जा सकती है, जो ऐसा करते हैं उन्हें कातने में एक अद्भुत आकर्षण का अनुभव होगा, इसलिए मैं कोई दूसरा काम बताने से इन्कार करता हूँ। हाँ, कताई का स्थान कोई ज्यादा जरूरी काम ले सकता है। ज्यादा जरूरी से मेरा मतलब समय की दृष्टि से जरूरी है। पास-पड़ोस के गाँवों को अच्छी साफ़ सुथरी और स्वास्थ्यप्रद हालत में रखने, बीमारों की तीमारदारी करने या हरिजन बच्चों को शिक्षा देने वगैरह कामों में उनकी मदद की जरूरत हो सकती है।

(घ) विद्यार्थी क्यों न शामिल हों ?

प्रश्न—आपने विद्यार्थियों का सत्याग्रह की लड़ाई में शामिल होना मना किया है। अलबत्ता आप यह जरूर चाहते हैं कि यदि इजाजत मिले तो वे स्कूलों और कॉलेजों को हमेशा के लिए छोड़ दें। क्या इंगलैंड के विद्यार्थी जब कि उनका देश लड़ाई में फँसा हुआ है, आज शान्त बैठे हैं ?

उत्तर—स्कूलों और कॉलिजों में से निकलने का अर्थ तो यह है कि असहयोग करना, लेकिन यह आज के कार्य-क्रम में शामिल नहीं। यदि सत्याग्रह की बागडोर मेरे हाथ में हो तो विद्यार्थियों को न आमंत्रण दूं और न उत्तेजित करूँ कि वे स्कूलों और कॉलिजों में से निकल कर लड़ाई में भाग लें। अनुभव से कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों के दिलों में कॉलिज का मोह कम नहीं हुआ है। इसमें शक नहीं कि स्कूल और कॉलिज की जो प्रतिष्ठा थी वह कम हुई है, मगर इसको मैं कम महत्व नहीं देता। और अगर सरकारी स्कूल कॉलिजों को कायम रहना है तो विद्यार्थियों को लड़ाई के लिए बाहर निकलने से कोई फ़ायदा नहीं होगा और न लड़ाई को कुछ मदद मिलेगी। विद्यार्थियों के इस प्रकार के त्याग को मैं अहिंसक नहीं मानता, इसलिए मैंने कहा है कि जो भी विद्यार्थी लड़ाई में कूदना चाहे उसे चाहिये कि कॉलिज हमेशा के लिए छोड़ दे और भविष्य में देश-सेवा में लग जावे। इंगलैंड के विद्यार्थियों की स्थिति बिलकुल जुदा है। वहाँ तो तमाम देश पर बादल छाया हुआ है। वहां के स्कूल कॉलिजों के संचालकों ने इन संस्थाओं को खुद बन्द कर दिया है। यहाँ जो भी विद्यार्थी निकलेगा संचालक की मर्जी के विरुद्ध निकलेगा।